निवेदन

—०—

राष्ट्रभाषा और राष्ट्रलिपि की समस्या का समाधान आपको इस पुस्तक में मिलेगा। आज यह समस्या देश के सम्मुख बड़ी विकट स्थिति में उपस्थित है। इस समस्या को सुलझाने में आपको इससे सहायता मिलेगी। अधिक से अधिक लोगों में ऐसी पुस्तकों का प्रचार हो इसीलिए ऐसे ग्रन्थ प्रायः ४०००) रु० मूल्य के निःशुल्क वितरित हो रहे हैं। आशा है सुधी पाठक इससे लाभ उठावेंगे।

श्रावण, २००६

गोविन्दप्रसाद केजरीवाल
प्रधान मंत्री
नवयुग हिन्दी साहित्य विद्यालय
हौजकटरा, काशी।

बिहार में हिंदुस्तानी

चंद्रबली पांडे, एम० ए०

नागरीप्रचारिणी सभा, काशी

आश्विन, १९९६

प्रथम सं० २०००] [मूल्य ।)

बिहार में हिंदुस्तानी

बुद्धगया में बोधिवृक्ष के नीचे गौतम बुद्ध को जो बोध प्राप्त हुआ उसका वितरण जनसमाज में लोकभाषा या जनता की नित्यप्रति की बोलचाल की भाषा में किया गया। गौतमबुद्ध के कारण लोकभाषा को जो महत्त्व मिला वह फिर कभी कम न हुआ, बल्कि प्रतिदिन कुछ न कुछ बढ़ता ही रहा। यह ठीक है कि आगे चल कर ब्राह्मणों के प्रभुत्व में आ जाने के कारण शिष्ट भाषा संस्कृत को अधिक प्रोत्साहन मिला, पर साथ ही यह भी निर्विवाद है कि संस्कृत के साथ ही साथ एक सामान्य चलित राष्ट्रभाषा का भी व्यवहार होता रहा जो समय समय पर पाली, प्राकृत और अपभ्रंश या भाषा के नाम से ख्यात होती रही और आज इस-लाम की कृपा से हिंदी अथवा हिंदुस्तानी के रूप में प्रतिष्ठित हो गई है। उसका यह नाम कब और कैसे पड़ा इसके फेर में पड़ने की कोई जरूरत नहीं, आज इतना सभी लोगों को मान्य

हो गया है कि वस्तुतः यह एक विदेशी संज्ञा है जो विदेशियों की कृपा से हमारी राष्ट्रभाषा को मिली है, और उन्हीं के प्रसाद से इसका प्रचार भी विश्वव्यापक हो गया है। इस हिंदी शब्द में जो जादू काम कर रहा है वह जरा काना हो गया है। इसी कानेपन के कारण आज वह उन्हीं लोगों की शुभ यात्रा में कुछ अपशकुन कर रहा है जो वास्तव में उसके विधाता या जन्मदाता थे। कारण प्रत्यक्ष है। आज उन्हें जो उसमें कानापन दिखाई देता है उसका सीधा और सच्चा सबब यह है कि आज उनका लक्ष्य ही कुछ और हो गया है। आज उनके सामने आँख खोल कर अच्छी तरह देखने का प्रश्न नहीं है, बल्कि प्रश्न है एक आँख मूँद कर निशाना ठीक करने का। फिर उन्हें अपने बापदादों की हिंदी कानी नहीं तो और क्या दिखाई दे; आखिर दुनिया एक दर्पण ही तो है?

गौतम बुद्ध ने लोकवाणी को महत्त्व दिया था और उनके अनुयायियों ने उसी को अपनाया। ठीक है, पर इसका अर्थ इतना ही ग्रहण करना चाहिए कि उनके संप्रदाय में लोकभाषा की प्रतिष्ठा हुई और उसी के द्वारा प्रचार का कार्य किया गया। बौद्ध मत के व्यापक हो जाने पर जिस व्यापक 'भाषा' की शरण ली गई वह देश की चलित राष्ट्रभाषा थी और ब्राह्मी की सगी संतान थी। पंक्तियों में लिखी जाने के कारण उसी का नाम 'पाली' प्रचलित हो गया और वही बौद्धों की शिष्ट भाषा बन गई। अब बौद्धों के प्रधान केंद्र मगध अथवा आधुनिक बिहार में जिस

देशभाषा का आदर बढ़ा वह शुद्ध मागधी न होकर 'पाली' हो गई। पाली की प्रकृति मागधी नहीं बल्कि ब्राह्मी अथवा ब्रह्मर्षि देश की लपित भाषा थी। संस्कृत की भाँति वह भी मगध की ठेठ भाषा नहीं बल्कि शिष्ट भाषा थी। पाली के साथ ही साथ एक दूसरी भाषा भी व्यवहार में आ रही थी जो पाली की अपेक्षा कहीं अधिक शुद्ध और खरी थी। आगे चल' कर जब पाली बिल्कुल पोथी की भाषा रह गई, तब उसकी जगह जो चलित राष्ट्रभाषा मैदान में आई उसका नाम शौरसेनी था। शौरसेनी अधिक समय तक अपने शुद्ध रूप में प्रचलित न रह सकी। विदेशियों के संसर्ग में आ जाने से जो अपभ्रंश नाम की एक सचेष्ट भाषा निकल पड़ी थी वही धीरे धीरे सर्वत्र व्याप्त हो गई। मगध में भी उसका प्रसार हो गया। वहाँ के सिद्धाचार्यों (सरह और कृष्णाचार्य) तक ने उसका स्वागत किया। कहने का तात्पर्य यह कि मगध में भी बहुत दिनों से एक ऐसी सामान्य राष्ट्रभाषा का प्रचार चला आ रहा था जो वास्तव में वहाँ की ठेठ भाषा न थी, पर जनता को प्रिय तथा बोधगम्य अवश्य थी।

मुसलमानों ने जिस भाषा को प्रायः हिंदी या हिंदुई के नाम से याद किया है उसी को समय समय पर 'रेख़ता' और 'गूजरी' भी कहते रहे हैं। रेखता का साफ अर्थ है अपभ्रंश। अपभ्रंश को ही आरंभ में यवनों ने रेखता कहा और फिर उर्दू नाम की एक नई जबान निकल आने पर उसकी मनमानी व्याख्या की। 'गूजरी' की भी कुछ यही दशा है। यह और कुछ नहीं गुर्जरों

की भाषा है, उन्हीं गुर्जरों की जिनके पुरोहितों की भाषा नागरी है। नागर गुर्जरों के पुरोहित थे। रेखता और गूजरी को अलग रख अब तनिक हिंदी पर भी विचार कर लीजिए। याद रखिए, हिंदी का संकेत कभी समूचे भारतवर्ष की भाषाओं के लिये नहीं हुआ है बल्कि आर्यावर्त या ठेठ हिंदुस्तान की भाषा के लिये हुआ है। ठेठ हिंद की भाषा का नाम हिंदी है, कुछ आजकल के समूचे हिंद की भाषा का नहीं। ठेठ हिंद का संकेत प्रायः वही समझना चाहिए जहाँ के लोग आज भी बोलचाल में 'हिंदुस्तानी' कहे जाते हैं। हिंदी वस्तुतः उन्हीं की भाषा है।

हिंदी वास्तव में एक व्यापक भाषा का नाम है जिसके क्षेत्र में अनेक विभाषाएँ तथा बोलियाँ हैं। जगह जगह पर इन बोलियों तथा विभाषाओं को भी हिंदी कहा गया है। इन विभाषाओं में से दो का उल्लेख तो अमीर खुसरो तक ने कर दिया है जिनमें से एक अवधी है और दूसरी देहलवी। अवधी और देहलवी का यह विभाजन आज भाषाविदों में पूर्वी और पश्चिमी हिंदी के रूप में ख्यात है। अवधी का प्रचार कभी बिहार में भी था और फलतः आज भी कुछ न कुछ वहाँ के मुसलमानों में बना भी है। पर बिहार ने आज एक स्वर से जिस भाषा को राष्ट्रभाषा के रूप में अपना लिया है वह 'देहलवी' अथवा उसी का एक चलित परि-मार्जित रूप है।

अमीर खुसरो की 'देहलवी' और कुछ नहीं बल्कि वही पुरानी 'ब्राह्मी' है जो सदा से अनेक रूपों में भारत की राष्ट्रभाषा रही

है। मुसलमानों के यहाँ आ कर बस जाने तथा इधर उधर देश में फैल जाने से भी इस भाषा के प्रचार में सहायता मिली। यहाँ पर ध्यान देने की बात यह है कि इस 'देहलवी' के भीतर 'व्रजभाषा' की भी गणना कर ली गई है। व्रजभाषा का प्रचार इतना व्यापक और प्रबल क्यों हो उठा, इसका भी एक ठोस इतिहास है, पर उसपर विचार करने का यह अवसर नहीं। यहाँ पर केवल इतना भर निवेदन कर देना है कि मुसलिम काल में भी इसका प्रचार बराबर इसलिये होता रहा कि एक ओर यह कृष्ण की लीलाभूमि व्रज की भाषा थी तो दूसरी ओर मुसलमानों के शासन-केंद्र आगरा की जबान। फिर इसका प्रचार चारों ओर क्यों न हो जाता? बिहारी लोग भी उसी में काव्यरचना क्यों न करते?

व्रजभाषा के साथ ही साथ बोलचाल की वह भाषा भी चल रही थी जिसे आज हम आप खड़ी बोली कहते हैं। इस खड़ी बोली के प्रभुत्व में आ जाने का एक रोचक इतिहास है। प्रसंगवश यहाँ थोड़ा इसपर भी विचार कर लेना चाहिए। हमारी दृष्टि में खड़ी बोली का सच्चा नाम 'उर्दुई' होना चाहिए। कारण प्रत्यक्ष है। इस बोली में कोई खड़ापन नहीं है बल्कि वह उर्दू-वालों की कटी छँटी भाषा है। उन्हीं की ठेठ अथवा चलती हुई जबान का नाम आज खड़ी बोली हो गया है, कुछ प्रेमसागरी खड़ी बोली का नहीं।

'उर्दुई' का अर्थ अच्छी तरह ग्रहण करने के लिये कुछ 'उर्दू' शब्द पर भी विचार कर लेना चाहिए। सबसे पहले हमें यह सदा

के लिये भूल जाना चाहिए कि उर्दू का 'लश्कर' या 'बाज़ार' से भी कोई संबंध है। 'उर्दू' का अर्थ 'छावनी' होता अवश्य है। शाही शिविर को उर्दू अवश्य कहते हैं। पर हमारी 'उर्दू' का लश्कर या बाजार से कोई लगाव नहीं। यह तो देहली दरबार की एक नई दरबारी ईजाद है। सैयद इंशा दरिया-ए-लताफत (सन् १८०७ ई०) में फरमाते हैं कि–

"यह मजमा जहाँ कहीं जाता है उनकी औलाद को 'दिल्लीवाल' और उनके महल्ले को 'मुहल्लः अह्ल-देहली' कहते हैं। और अगर यह लोग सारे शहर में आबाद हो गए तो उस शहर को 'उर्दू' कहते हैं, लेकिन सिवाय लखनऊ के इन लोगों का किसी और शहर में जमा हो जाना फ़क़ीर के नज़दीक साबित नहीं। गो मुर्शिदाबाद और अज़ीमाबाद के बाशिन्दे बज़ात खुद अपने को 'उर्दूदाँ' और अपने शहर को 'उर्दू' समझते हैं"। (तारीख़ शुअ़रा-ए-बिहार, कौमी प्रेस, बाँकीपुर पटना, सन् १९३१ ई०, पृ० १ पर उद्धृत)

'उर्दू' के विषय में सैयद इंशा ने जो कुछ कहा है उसका सीधा सादा अर्थ यह है कि दरहकीकत उर्दू एक शाही शानशौकत का वाचक शब्द है न कि किसी लश्कर या बाजार के सामान्य लोगों का परिचायक। बात यह है कि मुगल सम्राटों में शाहजहाँ एक शाही शानशौकत का शासक हो गया है। एक दिन उसके जी में आ गया कि उजड़ी दिल्ली को फिर से आबाद कर दो। फिर क्या था, एक नया शहर शाहजहानाबाद बस गया और उसमें शाही स्थान को 'उर्दू-ए-मुअल्ला' का खिताब मिल गया। 'उर्दू-ए-

मुअल्ला' नाम रखने का एक मात्र कारण यह था कि राजधानी आगरा में थी, शाहजहानाबाद एक बड़ी छावनी भर था।

'देहली' की चर्चा हम पहले भी कर चुके हैं। यहाँ इतना स्पष्ट कर देना है कि यह 'उर्दू' वस्तुतः उक्त 'देहलवी' से सर्वथा भिन्न है। यह 'उर्दू' देहली की सामान्य जनता की बोली नहीं बल्कि 'क़िला मुअल्ला' की एक नई ईजाद है। सुनिए, वहीं के सैयद इंशा क्या फरमाते हैं—

"ख़ुशबयानान, आंजा मुत्तफ़िक़ शुदः अज़ ज़बानहाय मुतफ़िद अलफ़ाज़ दिलचस्प जुदा नमूदः व दर बाज़े इबारात व अल्फ़ाज़ तसर्रुफ़ बकार बुर्दः ज़बाने ताज़ः सिवाय ज़बान हाय दीगर बहम रसानीदन्द व बउर्दू मौसूम साख़्तन्द।" (दरियाए लताफत)

सैयद इंशा ने कितना स्पष्ट कर दिया है कि उर्दू एक 'ताज़ः ज़बान' है और अन्य अनेक भाषाओं में से कतर-ब्योंत और काट छाँट कर कुछ इधर उधर फेरफार कर बना ली गई है। उसके विधाता शाहजहानाबाद के कुछ खुशबयान लोग ही हैं। उनकी यह 'ताज़ः ज़बान' कितनी 'आमफ़हम' या बोलचाल की है जरा इसे भी देख लें। वही सैयद इंशा फिर बजात खुद फरमाते हैं—

"हम चुनाँ सकनः महल्लात दीगर कि बाज़े अज़ सुहबत वालिदैन ज़बान याद दाश्तः व बाज़े ज़बान फ़रीदाबाद व बाज़े ज़बान रुहतक व बाज़े ज़बान सोनीपत व बाज़े ज़बान मीरठ याद गिरिफ़्तः बा रोज़मर्र-ए-उर्दू ज़म नमूदः अन्द बखुदा कि गुफ़्तगूयशां शबीह बजानवरे अस्त की चेहरा अश चेहरा

अस्त व बाक़ी तमामश बसूरत ख़र बाशद या निस्फ़श आहू व निस्फ़श सग।" (दरि० लता०)

देखा आपने! सैयद इंशा की दृष्टि में उन लोगों की यह दशा है जो किसी तरह 'उर्दू' जान चुके हैं पर भूलचूक से कभी अनजान में एकाध ऐसे प्रयोग कर जाते हैं जो उर्दू में तो नहीं पर उसके आसपास प्रचलित हैं। नतीजा यह होता है कि उनका मुँह तो मुँह मान लिया जाता है पर उनका शरीर गदहे का शरीर समझ लिया जाता है, अथवा उदारतावश आधा हरिण और आधा कुत्ते का मान लिया जाता है। जब देहली प्रांत के पठित मुसलमानों की यह दशा है तो अन्य प्रांतों के गँवार हिंदुओं की क्या गति होगी? किस प्रकार उनके शब्द और प्रयोग दरबारी उर्दू में दाखिल कर लिए जायँगे? भला वह सच्ची हिंदुस्तानी कब बन सकेगी?

अच्छा, तो एक 'ताज़:ज़बान' के ईजाद की जरूरत ही क्यों पड़ी? उसके बिना जनता का कौन सा काम अटक रहा था? बात यह है कि औरंगजेब की कूटनीति तथा सांप्रदायिक कट्टरता के कारण मुसलिम शासन के जोड़ उखड़ गए थे। मुगल सम्राट् ले दे कर किसो तरह 'क़िला मुअल्ला' में अपने दिन काटते थे। फारस से न तो अब फारसी के चुने हुए कवि ही आ सकते थे और न इस विकट परिस्थिति में फारसो को कोई नवीन प्रोत्साहन ही मिल सकता था। रही हिंदी अथवा भाषा की बात। सो वह प्रजा की लोकभाषा थी। उसमें कुछ खुल कर जौहर

दिखाना अब अपने लोगों का काम न रह गया था। अपने राम तो अब उसे गँवारी समझने लग गए थे। निदान इस बीहड़ परिस्थिति में उन्हें एक ऐसी सूरत नजर आई जो उनका काम आसानी से कर गई। वह और कुछ नहीं 'दक्खिनी' नाम की एक ऐसी चीज थी जो धीरे धीरे फारसी-अरबी को अपना सब कुछ मान चली थी। उसके पेशवा वली का दिल्ली में आना था कि हिंदी के भाग्य ने पलटा खाया और वह 'भाषा' की कैद से छूट कर फारसी की गोद में जा बैठी। फारस ने उसे देखा-भाला और अच्छी तरह सँवार कर उसे अपनी जगह बिठा दिया। वही अब दिल्ली दरबार याने उर्दू की राजभाषा हो गई। राजपदवी प्राप्त हो जाने का परिणाम यह हुआ कि अब उसकी मर्यादा निश्चित कर दी गई और वह एकमात्र 'नजीबों' की चीज समझी गई। उस पर केवल उन्हीं लोगों का अधिकार रह गया जो परंपरा से कुलीन दरबारी मुसलिम याने 'खुशबयान' हों, उर्दू के रागरंग, हावभाव और नाजअंदाज से वाकिफ हों।

दिल्ली के उजड़ जाने से उर्दू किस तरह उर्दूवालों के साथ देश के नाना नगरों में बस रही थी, इसकी एक झलक सैयद इंशा के उक्त कथन में मिल गई है। सैयद इंशा ने वहीं आगे चल कर यह भी कह दिया है कि इसी निकास तथा उद्वास के कारण लखनऊ शाहजहानाबाद हो गया और वहाँ की उर्दू प्रमाण मानी जाने लगी। लखनऊ के अतिरिक्त फैजाबाद, अजीमाबाद (पटना) मुर्शिदाबाद आदि स्थानों को भी कुछ उर्दू का

शौक हुआ और धीरे धीरे उर्दू दूसरे शहरों में भी अपना पाँव पसारने लगी। पर कलकत्ते में गौरांग प्रभुओं को पा कर उसने अपना जो रंग जमाया उसका फल यह हुआ कि बेचारी लोकभाषा हिंदी कहीं की न रह गई और धीरे धीरे उसकी जगह उर्दू को मिल गई। फिर क्या कहना था! उर्दू हिंदुस्तानी या मुल्की जबान के नाम से आगे बढ़ी और अपनी जान में हिंदी को दफना दिया। दरबार या सरकार में कहीं उसका निशान भी न रह गया।

उर्दू के विषय में अब तक जो कुछ कहा गया है उससे इतना तो स्पष्ट ही है कि जनता से उसका कुछ भी सीधा संबंध नहीं है। याद रहे, जनता से हमारा तात्पर्य केवल हिंदू जनता से ही नहीं बल्कि उस मुसलिम जनता से भी है जो नजीब या उर्दू की नहीं है। प्रश्न उठता है कि 'दिल्लीवाल' लोगों के उजड़ बसने और देश के भिन्न भिन्न नगरों में जा रहने के पहले वहाँ के लोग अपनी जन्मभाषा के अतिरिक्त कोई और अन्य भाषा जानते थे अथवा नहीं। निवेदन है, जानते थे और अच्छी तरह जानते थे। कुछ लोग तो उसमें कविता भी कर लेते थे। तो वह भाषा आखिर थी कौन सी? 'अवधी' के विषय में अब हम कुछ और न कहेंगे पर इतना अवश्य संकेत कर देंगे कि कुछ उसका भी प्रचार बिहार में था। रही 'देहलवी' की बात। उसके संबंध में पहले ही कहा जा चुका है कि उसका व्यवहार बराबर देश के भिन्न भिन्न प्रांतों में होता रहा है और देहली के लोग हिंदू मुसलमान दोनों ही बरा-

बर दिल्ली से निकल कर बाहर जाते और बसते रहे हैं। अस्तु, उर्दू के दरबे से बाहर झाँकने के बहुत पहले ही एक मिलीजुली हिंदुई का देश या राष्ट्रभाषा के रूप में समूचे हिंदुस्तान में प्रचार होगया था। आरंभ में अंगरेजों ने उसी को हिंदुस्तानी के पाक नाम से याद किया और उसी को लोकभाषा के रूप में अपनाया। बाद में प्रमाद या व्यामोहवश उर्दू को फारसी के नाते पनपाया और धीरे धीरे कूटनीति के सहारे उसे आसमान पर चढ़ा दिया। अब सभी लोग उसी का दम भरने लगे।

जानकारों से यह बात छिपी हुई नहीं है कि मुसलिम शासन में हिंदी फारसी के साथ साथ चलती रही और कंपनी सरकार ने एक ओर फारसी पर हाथ साफ किया तो दूसरी ओर हिंदी पर। राजभाषा की जगह अँगरेजी को दे दी तो लोकभाषा की जगह उर्दू को। मानो हिंदी भी फारसी की तरह कोई ऊपरी या बाहरी चीज थी। खैर, अभी इतना जान लीजिए कि कंपनी सरकार के सामने जब भाषा का प्रश्न आया और यह सवाल उठा कि बिहार के कलक्टर साहबों की मुहर पर कौन सी भाषा और कौन सी लिपि रहे, तब चट निश्चित हो गया कि फारसी भाषा और फारसी लिपि तथा हिंदुस्तानी भाषा और नागरी लिपि। यदि विश्वास न हो तो पहली मई सन् १७९३ ई० का रेगूलेशन २ सेक्शन ५ देखिए। प्रत्यक्ष है कि फारसी भाषा तथा लिपि को तो शाही जबान होने के नाते जगह मिली पर हिंदुस्तानी भाषा तथा नागरी लिपि को केवल प्रजावर्ग की प्रेरणा से स्थान

मिला। यदि वह लोकभाषा और लोकलिपि न होती तो उसका नाम ही कौन लेता ? रही उर्दू की बात। अभी चुपचाप जमाने का रंग देखते रहिए। अभी 'इम्तयाज़' या 'शाहोशान' के लिये फारसी बनी है। उसको दफ़्तर से अभी देशनिकाला नहीं मिला है।

जो लोग उर्दू को 'मुल्की जबान' कहते और हिंदी को कल की बनावटी भाषा मानते हैं उन्हें अब जरा होश में आ जाना चाहिए और यदि हो सके तो पुष्ट प्रमाणों के आधार पर अपने दावे को सही साबित कर देना चाहिए। फजूल की लाग डाट और व्यर्थ की छीन झपट से अब काम नहीं सध सकता। अब तो देशी मुसलिम भी समझ गए हैं कि हिंदी ही उनकी भी देशभाषा है। उनके सामने भी धीरे धीरे वह सारा इतिहास आ रहा है जो उनके पूर्वजों के रक्त से बना है और जो उनकी विमल वाणी से विभूषित है। देखिए न, कंपनी सरकार ने भी अपने विधानों में उसी हिंदी भाषा और उसी हिंदी लिपि को महत्त्व दिया है जिसकी चर्चा आज हम यहाँ कर रहे हैं और कल जिसे देश के एक छोर से दूसरे छोर तक व्याप्त देखना चाहते हैं। राष्ट्रभाषा और राष्ट्रलिपि के रूप में नागरी की प्रतिष्ठा तो बहुत पहले से हो चुकी है पर व्यवहार में अभी उसका पूरा पूरा प्रचार नहीं हो पाया है। बिहार आदि प्रांतों में भी, जहाँ उसका एकमात्र शासन था, अब प्रमाद अथवा न तिवश उर्दू को स्थान दिया जा रहा है और एक अजीब हिंदुस्तानी का बेमेल डौल डाला जा रहा है। कारण अज्ञता, अनभिज्ञता, आलस्य और कायरता के अति-

रिक्त और क्या हो सकता है ? कचहरी और दफ़्तरों की भाषा तो आज भी अजनबी और अजीब बनी हुई है, और लड़ाई हो रही है हिंदी और हिंदुस्तानी के लिये, मानो उनमें कोई एकता ही नहीं है !

जो हो, सबसे पहले हमें देखना यह है कि दिल्ली दरबार के अधीन कंपनी सरकार ने शासन के लिये जो विधान बनाए उनका प्रचार किस प्रकार जनता में किया गया और किस भाषा तथा किस लिपि को देशभाषा तथा देशलिपि की प्रतिष्ठा मिली। सुनिए—

"अदालत के वकील लोग और आदमी भी हजूरी आईन् से वाकिफ हो सकते रहे इस वासते उस आईनों के छापे का कीताब मैं फारसी वो देसीभाखे वो अछर से उसका तरजमा फिहरीसत के ठेकाने से जीलदबनदी हो के छोटे वो बड़े के पढ़ने के वासते हरी ऐक अदालत के कचहरी मे मौजूद रहेगा वो जब तक के ऊपर के लिखने बमौजिब ऐक ऐक साल के मोकररी आईनो का जीलदबनदी नही होऐ चाहिअै के जिस वखत जो आइन के तरजमा होकै छापा होऐ उपर के लिखने के तरह से उस आईन मै उसके तरजमे का ऐक ऐक कीताब हरी ऐक अदालत के कचहरी मे मौजूद रहे वो उस आईन के मौजूद रखने के वासते चाहीअै के हरी ऐक अदालत के कचहरी मे ऐक मेज जुदा कीसी जगह मे रखा जाऐ वो इतवार का रोज छोड कै हर रोज नौ घंटा से दोपहर तीन घंटा अंगरेजी तक छोटे वो बडे के पढने के वासते मेज के उपर मौजुद रखा जाऐ वो ईस मेआद मे वकील लोग वो और सभो को अखतीआर है के उस आइन को कचहरी मे पढै वो अगर चाहै उसका तमाम ईआ उससे

कुछ का नकल लेवैं।" (अँगरेजी सन १८०३ साल १० आईन ५ दफा)।

'छोटे वो बड़े के पढ़ने के वासते' ही नहीं बल्कि 'अदालत' के बूझने के वास्ते भी देशी भाषा और देशी अक्षर का विधान था। अदालत में भी देशी भाषा को स्थान मिला था—

"मोफसील कोट अपील के अदालत के साहेब लोग जो कागज के देसी भाखे वो अछर मे खाह अपील के मोकदीमा खाह और मोकदिमा मे सदर दीवानी अदालत मे भेजही अगर उसके तरजमा के वासते खास हुकुम जारी नही हुआ रहै उनका तरजमा नही करहींगे।" (अंगरेजी सन १८०३ साल ५ आईन २९ दफा)।

'तरजमा' के बारे में याद रहे कि—

"जीस वखत इंगलीसतान वादसाह वो उनके कौंसल के साहेब लोग के हजुर मे मोकदीमे का अपील सदर दीवानी अदालत के साहेब लोग मनजुर करही चाहीअै के उस मोकदीमे के वावत के तमामी कएेदाद वो डीकरी ईआ हूकुम मै गवाही लोग के जबानबनदी वो दसतावेजात का दो नकल अगर देसी जबान में रहै अँगरेजी जबान मे तरजमा कराऐ कै तैआर करावही वो उसके तैआरी के पीछे अदालत के मोहर वो रजीसटर साहेब के दसखत से जुदा जुदा इंगलीसतान बादशाह वो उनके कौंसल के साहेब लोग के हजुर से उसके भेजने के वासते जेता जलदी रवाने करने का ईतफाक होऐ नौआब गवरनर जनरल बहादुर के पास दाखील करही।" (अगरेजी सन १८०३ शाल ५ आईन ३४ दफा)।

प्रकृत अवतरणों के आधार पर यह आसानी से कहा जा सकता है कि सचमुच कंपनी सरकार ने आरंभ में हमारी देश-

भाषा तथा देशलिपि का पूरा पूरा सत्कार किया और उनको वह स्थान दिया जिसको प्राप्त कर लेना उनका जन्मसिद्ध अधिकार था। पर संभवतः अब भी कुछ लोग प्रमादवश कह पड़ेंगे कि जनाब, 'देशीभाषा' का अर्थ है उर्दू, न कि हिंदी या हिंदवी। निवेदन है, तनिक इसे भी देख लीजिए। अदालत के प्रसंग में अदालती कागज को ही ले लीजिए--

"जो सीटामप सभके दावे वो जवाब गैरह कागज के उपर किआ जाऐगा उसके ऊपर नीचे का मजमून फारसी भाखे वो अछर वो हीनदवी जूबान को नागरी अछर मो खोदा जाऐगा।" (अंगरेजी सन १८०३ माल ४३ आईन १३ दफा ६ तफसील)।

हो सकता है 'जूबान' के कारण आप इसे उर्दू समझ रहे हों, इसलिये कुछ और भी देख लीजिए--

"सुपरिनटनडंट साहब को लाजिम है के सीटामप कीआ हुआ कागज सभ अदालत गैरह के दफतर के साहेब लोग ईआ जो कोई के तलब करने का अखतीयार रखै उसके पास सरबराह देने के आगे सरकारि खाजाने के उपर अंगरेजि जुबान वो हरफ मे टेरेजोरी वो खजाने आमरे का बात फारसी वो बंगला वो हनदी भाखे वो अछर मे खोदा जाएगा।" (अंगरेजी सन् १८०३ साल ४३ आईन १९ दफा)।

हिंदी भाषा के संकेत को और भी स्पष्ट करने के लिये यह आवश्यक है कि हम एक और आईन का प्रमाण पेश करें और यह साफ साफ सुझा दें कि उक्त आईनों में हिंदी, हिंदवी और

हिंदुस्तानी का अर्थ वही है जो आज की हिंदी अथवा नागरी का, न कि उर्दू अथवा किसी दरबारी जबान का। अब—

"किसी को ईस बात का उजुर नही होऐ के उपर के दफेका लीखा हुकुम सभ से वाकीफ नही हैं हरी ऐक जिले के कलीकटर साहेब को लाजीम है के इस आइन के पावने पर ऐक ऐक केता इसतहारनामा निचे के सरह से फारसी वो नागरी भाखा वो अछर मे लीखाऐ कै अपने मोहर वो दसतखत से अपने जिला के मालीकान जमींन वो ईजारेदार जो हजुर मे मालगूजारी करता उन सभो के कचहरि में वो अमानि महाल के देसि तहसीलदार लोग के कचहरी लटकावही" (अंगरेजी सन् १८०३ साल ३१ आईन २० दफा)।

निदान, हमको विवश हो मानना पड़ता है कि कंपनी सरकार ने आरंभ में जिस भाषा तथा जिस लिपि को देशी भाषा तथा देशी लिपि होने के नाते अदालत में स्थान दिया वह और कुछ नहीं बल्कि वही हमारी चिर परिचित परंपरागत हिंदी भाषा तथा नागरी लिपि है जो आज न जाने क्यों बनावटी और कल की चीज बताई जा रही है। बिहार, वही बिहार जहाँ की वह देशी भाषा तथा देशी लिपि आज से न जाने कितने दिनों पहले मानी जा चुकी थी, आज उसी हिंदी भाषा तथा उसी हिंदी नागरी लिपि को बक-दृष्टि से देख रहा है और किसी हिंदुस्तानी के कल्पित नाम से न जाने कौन सी अजनबी भाषा को ईजाद कर रहा है। याद रहे, आज भी 'खुशबयान' लोगों में उन्हीं की गणना है जो 'नजीब दिल्लीवाल' नहीं तो कम से कम उनके मुरीद तो अवश्य है। हिंदुस्तानी डिक्शनरी के विधाता मौलाना अब्दुल

हक का आसन आज भी दिल्ली में ही जमा है और उसके डाक्टर जाकिर हुसेन भी वहीं के रोड़े हो रहे हैं।

आखिर काँगरेस सरकार को किसी बनावटी हिंदुस्तानी की आवश्यकता क्यों पड़ ; क्या अब उसका काम हिंदी याने हिंदुस्तानी से नहीं निकल सकता था ? बात यह है कि जिन 'खुशबयान' लोगों की प्रेरणा से उर्दू का जन्म हुआ उन्हीं के हठ तथा दुराग्रह से आज एक अजीब हिंदुस्तानी का सृजन हो रहा है। उसके लिये यह दावा करना कि वह 'आमफ़हम' और 'लोकभाषा' है, शुद्ध पाखंड और घोर वितंडा है। उसके बिना भी न जाने कितने दिनों से हम हिंदू-मुसलिम जिस देशभाषा में बातचीत करते आ रहे हैं वही आज भी हमारे बात-व्यवहार और नित्यप्रति के कामकाज की भाषा है। हमें किसी नई भाषा की ईजाद की जरूरत नहीं है, यदि है तो उन्हीं 'खुशबयान' लोगों को जो सदा से 'इम्तयाज़' के कायल रहे हैं और किसी तरह अपने आप को जनता में मिलने नहीं देते। जब उन्होंने देखा कि अब हिंदुस्तान में फारसी का राज्य नहीं रहा और हिंदी फिर चारों ओर फैल निकली तो चट उन्होंने मिलकर तरह तरह की कतर-ब्योंत कर एक नई जबान ईजाद कर ली और उसका नाम उर्दू रख दिया। किंतु जिस कालचक्र के प्रभाव से फारसी को बिदाई का परवाना मिल गया उसी की कृपा से उसकी लाड़ली उर्दू को भी यह दिन देखना पड़ा। अब उर्दू उर्दू के रूप में तो जीने से रही। अदबी दुनिया अरबी और फारसी के सामने उसे क्यों पूछने लगी ! रही हिंदु-

स्तान की आम जनता की बात। सो उसके लिये उसमें धरा ही क्या है ? वह उसकी जबान ही कब रही ? निदान, यह आवश्यक हो गया कि उर्दू भी उसी तरह मरने से बचा ली जाय जिस तरह कभी फारसी बचा ली गई थी। उर्दू की ईजाद उस समय हुई जब उर्दू याने दरबार की प्रतिष्ठा थी और हिंदुस्तानी की ईजाद उस समय हो रही है जब प्रजा ने राजा को दबा लिया है। मतलब यह कि चीज वही है पर नाम दूसरा है। हमें चीज और नाम के भेद को अच्छी तरह समझ लेना चाहिए और वह उपाय करना चाहिए जो हमारे उत्थान का कारण हो, पतन का नहीं।

इधर फोर्ट विलियम की कंपनी सरकार हिंदी भाषा और नागरी अक्षरों को लोकभाषा तथा लोकलिपि के रूप में अपना रही थी तो उधर उसी फोर्ट विलियम के कालेज में डाक्टर गिल-क्रिस्ट तथा उनके साथी मुंशी उर्दू की हिमायत में लगे थे और कंपनी के साहबों को कुछ ऐसा पाठ पढ़ा देना चाहते थे कि वे सरकारी कामकाज के लिये जल्दी से जल्दी फारसी सीख लें। साथ ही इस बात का भी ध्यान रखते थे कि कुछ देशभाषा तथा देशलिपि का भी बोध हो जाय। बिहार के सदलमिश्र और आगरा के लल्लू जी लाल ने डाक्टर गिलक्रिस्ट के आदेश से जो कुछ किया वह तो केवल निमित्त मात्र था। कालेज तथा डाक्टर गिलक्रिस्ट की पूरी पूरी कोशिश तो दरबारी जबान उर्दू के लिये ही रही। उर्दू को ही फोर्ट विलियम कालेज ने सराहा

और धीरे धीरे शिक्षा के साथ लोक-व्यापक बनाने की भरपूर चेष्टा की। कारण, वही उसके शाही दरबार की लपित शिष्ट भाषा थी। फिर भी स्वयं डा० गिलक्रिस्ट तथा उनके मुसलिम मुंशियों ने स्पष्ट स्वीकार किया है कि उनकी उर्दू देशभाषा हिंदी अथवा हिंदुस्तानी की ही एक शैली अथवा विभाषा मात्र है जिसका स्थान 'उर्दू-ए-मुअल्ला' अथवा शाहजहानाबाद का शाही दरबार है। दरबार की भाषा को ही प्रमाण माना जा रहा है।

कंपनी सरकार की कृपा से उर्दू के पंख लग गए और वह हिंदी पर उड़ उड़ कर धावा बोलने लगी। धीरे धीरे उसमें इतनी शक्ति आ गई कि कामकाज तथा शिक्षा का सारा भार उसी को सौंप दिया गया। कंपनी सरकार ने कभी प्रतिज्ञा की थी कि वह फारसी का पोषण करेगी और भरसक उसपर किसी प्रकार की आँच न आने देगी। परंतु जब स्वयं देहली दरबार से उसकी रक्षा न हो सकी तब कंपनी सरकार कहाँ तक उसके लिये सती होती? रही उसके प्रेमियों के ऊधम मचाने की बात, सो उसके लिये बड़ी चातुरी से कंपनी सरकार ने उर्दू को उनके सामने ला खड़ा कर दिया। फिर किसमें ताब थी कि जरा भी चूँ करता। उपयुक्त और उचित अवसर देख कर कंपनी सरकार ने फारसी से अपना पिंड छुड़ाया और सन् १८३७ ई० में ऐक्ट बना दिया कि अब फारसी की जगह कचहरियों तथा दफ़्तरों में देशभाषाओं को चालू कर दिया जाय। किंतु यह काम सहसा न किया जाय, बल्कि धीरे धीरे लोगों का रंगढंग देख कर साव-

धानी के साथ किया जाय। अच्छा होगा, उक्त ऐक्ट की एक झाँकी स्वयं भी ले लें—

"I. It is hereby enacted that from the first day of December 1837, it shall be lawful for the Governor General of India in Council, by an Order in Council, to dispense either generally, or within such local limits as may to him seem meet, with any provision of any Regulation of the Bengal Code, which enjoins the use of the Persian language in any judicial proceeding or in any proceeding relating to the Revenue, and to prescribe the language and character to be used in such proceedings.

II. And it is hereby enacted, that from the said day it shall be lawful for the said Governor-General of India in Council, by an order in Council, to delegate all or any of the powers given to him by this Act, to any subordinate authority, under such restrictions as may to the said Governor-General of India in Council seem meet." (Act No. XXIX of 1837. Passed on the 20th November, 1837).

ऐक्ट के अनुसार यदि काम किया गया होता और स्थिति भी यदि सन् १८०३ ई० तक की रही होती तो फारसी भाषा और फारसी खत के निकल जाने पर जिस भाषा तथा जिस लिपि

को जगह मिलती वह स्वभावतः हिंदी भाषा तथा हिंदी लिपि ही होती। पर आश्चर्य की बात तो यह है कि उक्त विधान के बाद धीरे धीरे अदालतों से हिंदी भाषा तथा हिंदी लिपि उठा दी गई और जगह मिली न जाने किस अजनबी भाषा और फारसी लिपि को। फारसी लिपि की रक्षा का कारण तो कुछ न कुछ समझ में आ जाता है, क्योंकि वही 'उर्दू' की भी लिपि है। पर इस अजनबी भाषा का भेद समझ लेना कुछ कठिन है। कारण, हम इसे आज किसी द्वेप या दुराग्रह का परिणाम तो कह नहीं सकते ! रही इसके उर्दू होने की बात। उसके विपय में निवेदन है कि वह किस और कहाँ के उस्ताद की जबान है ? कौन उसको जबान की सनद के रूप में पेश कर सकता है ? यदि आप उसे फारसी या सरकार की उर्दू कहें तो ठीक है, पर वह किसी देश के किसी कोने की जबान तो हरगिज नहीं है। देहली या लखनऊ की उसमें बू भी नहीं है। उसकी शान अजीब और निराली है। चाहें तो उसे काँगरेस सरकार की हिंदुस्तानी कह लें। कारण, वह शौक के साथ उसे गले लगा रही है और उसको 'आमफ़हम' बनाना अपना कर्त्तव्य नहीं समझती।

सन् १८३७ ई० के ऐक्ट का प्रभाव कुछ न कुछ भारत की सभी देशभापाओं पर पड़ा। हिंदुस्तान की मुख्य भाषा हिंदी को इसने किस तरह बरबाद किया और उसकी जगह एक अजीब जबान उर्दू को किस तरह चालू कर दिया आदि बातों पर विचार करने के पहले कुछ डाक्टर मौलाना अब्दुलहक के इस निष्कर्ष पर

ध्यान दीजिए और देखिए कि बिहार में हिंदी की क्या गति हुई। उनका सगर्व कहना है—

"सन् १८३७ ई० में जब फ़ारसी ज़बान अदालतों और सरकारी दफ़्तरों से ख़ारिज की गई तो सूबः बिहार में (जो उस ज़माने में सूबः बंगाल में शामिल था) फ़ारसी की जगह उर्दू ने ले ली। लेकिन इसके कुछ अरसे बाद मुल्क में एक ऐसी जमाअत पैदा होगई जो उर्दू ज़बान और उर्दू रस्मख़त की मुख़ालिफ़त शद व मद से करने लगी। उस जमाअत की मुसलसल कोशिशों का नतीजः यह हुआ कि हुकूमत बंगालः ने सन् १८८१ ई० में एक एलान के ज़रियः से सूबः बिहार में उर्दू रस्मख़त की जगह हिंदी रस्म ख़त जारी कर दिया। बावजूद इसके उर्दू ज़बान और उर्दू रस्मख़त अदालतों और सरकारी दफ़्तरों से बिल्कुल ख़ारिज न हुआ। ज़बान तो वही (उर्दू) रही लेकिन रस्मख़त बदल गया। क़ानूनी इस्तलाहात वही हैं जो साबिक़ में थीं। संस्कृत आमेज़ हिंदी का अदालतों और सरकारी दफ़्तरों में अब तक रिवाज नहीं हुआ। लेकिन ऐसा सुनने में आया है कि एक जमाअत इस कोशिश में है कि क़ानूनी इस्तलाहात भी संस्कृत से बना कर रायज की जाएँ। उम्मीद नहीं कि यह कोशिश बार आवर हो।" ('उर्दू', जुलाई सन् १९३७ ई० पृ० ६५३: अंजुमन तरक्की उर्दू हिंद का रिसाला)

मौलाना हक के अंतिम वाक्य के विषय में हमें जो कुछ कहना है वह अभी नहीं कह सकते। अभी तो हमें यह बता देना है कि उक्त ऐक्ट में इस बात का स्पष्ट निर्देश है कि फारसी भाषा धीरे धीरे हटा दी जाय, पर कहीं इस बात का संकेत भी नहीं है कि उसकी जगह उर्दू को दी जाय। सच पूछिए तो उसका स्पष्ट आशय यह

है कि प्रत्येक प्रांत में वहीं की भाषा तथा वहीं की लिपि को जगह मिले। अब प्रश्न सामने आता है कि आखिर हिंदी के प्रांत में हिंदी की जगह कल की उर्दू कैसे चालू हो गई और क्यों हिंदी लिपि को बिदाई मिल गई। उत्तर बहुत आसान है। हिंद प्रांत में दुर्भाग्य से हिंदी के भीतर एक ऐसी शैली का उदय हो गया था जिसका सभी कुछ फारसी था। यदि नहीं था तो कहीं कहीं 'में' 'को' 'पर' या 'है'। अर्थात् विभक्तियों और क्रियाओं को छोड़ कर सभी कुछ फारसी हो गया था। लिपि तो बिल्कुल वही फारसी लिपि थी। अतएव हुआ यह कि कचहरी के साहबों ने अपनी आसानी और समय की बचत के लिये लिपि के प्रश्न को तो यों ही छोड़ दिया और भाषा के विषय में यह आदेश किया कि धीरे धीरे भाषा को बिल्कुल ही सुबोध और ठेठ बोलचाल की कर दिया जाय। फारसी में तनिक सा परिवर्तन कर देने से जो कचहरी की देशी जबान उर्दू बनी वह कहाँ तक 'आमफ़हम' और ठेठ कामकाज की है उसे सभी लोग जानते और पहचानते भी हैं। पर फिर भी उसकी रक्षा का प्रयत्न केवल इसलिये किया जा रहा है कि उससे कुछ मसिजीवियों का पेट पलता और उसमें शाही शान की गमक रहती है। खैर अभी इतना नोट कर लीजिए कि वस्तुतः यह फोर्ट विलियम कालेज की बरकत और हमारी लापरवाही का नतीजा है कि फारसी लिपि के सहारे फारसी जबान भी कुछ इधर उधर कर हमारी कचहरियों और दफ़्तरों में पड़ी है और समय आने पर 'उर्दू' की ओट में छिप जाती है। गोया वह फसीह उर्दू है।

कचहरी के सभी प्राणी फारसी में अभ्यस्त थे। फारसी लिपि में लिखते रहने की उन्हें आदत हो गई थी। जब तक फारसी जबान का दौर दौरा था तब तक देशभापा होने के कारण हिंदी भाषा और हिंदी लिपि को भी जगह मिली थी। परंतु जब फारसी की जगह देशभाषा को मिली तब उर्दू सामने आ गई और वह एक ओर फारसी का काम करने लगी तो दूसरी ओर हिंदी का दम भरने लगी। नतीजा यह हुआ कि धीरे धीरे हिंदी नवीसी बंद हो गई और पेट के लिये सर्वत्र फारसी लिपि का प्रचार हो गया। अस्पष्ट और भ्रमपूर्ण होने के कारण वह मसिजीवियों के अधिक काम की साबित हुई। उससे पैसा भी हाथ में आने लगा और शान भी बढ़ गई। फिर क्या था, कचहरियों और दफ़रों में हिंदी की सूरत तक हराम हो गई।

हिंदी जनता अपनी प्यारी जबान हिंदी के लिये किस तरह तड़पती रही और समय पर उसे किस किस तरह के दिलासे और ठेले मिलते रहे, इन बखेड़ों में पड़ने की जरूरत नहीं। जरूरत है उस घोपणा को भली भाँति देख लेने की, जिसके फलस्वरूप हिंदी को फिर कचहरियों और दफ़रों में स्थान मिला और बिहार में यत्र तत्र क्या सर्वत्र हिंदी लिपि दिखाई पड़ने लगी। धन्य कहिए बंगाल के लेफ्टनेंट गवर्नर श्री जार्ज केम्बल (Campbell) को, जिनकी पैनी प्रतिभा ने भाँप लिया कि देश का वास्तविक हित है हिंदी के प्रचार में, न कि गड़बड़ उर्दू की हिमायत में। निदान उन्होंने ४ दिसंबर सन् १८७१ ई० को घोपणा की कि—

"फ़ारसी ज़बान को जो हिंदुस्तान के क़दीम हुक्मरानों की ज़बान थी कुल्लियतन् तर्क कर दिया गया है। सरकारी ज़बान की हैसियत से मेरे (लेफ्टनेंट गवर्नर बंगाल) हिंदुस्तान आने से क़ब्ल यह ज़बान तर्क कर दी गई थी। मेरी खि़दमत के इब्तदाई अय्याम में इस बात की पूरे तौर पर कोशिश की गई कि सरकारी क़वानीन में उस दोग़ली ज़बान के अल्फ़ाज़ मुस्तमल न हों जो फ़ारसी ईशापरदाज़ों को बहुत अज़ीज़ थे। मेरा ख़्याल था कि यह ज़बान बिल्कुल मतरूक हो चुकी है और हमें ऐसा करने में काम-याबी हासिल हुई है। लेकिन पिछले दिनों जब मुझे बिहार जाने का इत्तफ़ाक़ हुआ तो मुझे यह देखकर ताज्जुब हुआ कि यह दोग़ली ज़बान फल फूल रही है और हमारे क़वानीन में उसके लफ़्ज़ इस्तमाल होते हैं और मदरसों में भी उसकी तालीम का इंतज़ाम है। बिहार में मैंने जो ज़बान सुनी वह निहायत ख़राब और मसनूयी थी। ऐसी मसनूयी ज़बान मैंने पहले कभी नहीं सुनी थी। मुझे यह देख कर ताज्जुब हुआ कि इस क़िस्म की ज़बान को हमारे मदारिस में देसी ज़बान (वर्नाक्यूलर) कहा जाता है। मौलवी लोग जो ज़बान मुरव्वजः ज़बान की बजाय हमारे मदारिस में सिखाते हैं वह ज़बान कहलाने की मुस्तहक़ ही नहीं। उस ज़बान के लिये 'उर्दू' का लफ़्ज़ इस्तमाल किया जाता है जो निहायत ग़ैर मौज़ूँ है। मैं समझता हूँ यह लफ़्ज़ बंगाल के मुहकमये तालीमात ने रायज किया है। यह एक ऐसा लफ़्ज़ है जिसके माने मुतैय्यन नहीं किए जा सकते। किताबों में चाहे इस ज़बान के मुतल्लिक़ कोई कुछ लिखे लेकिन हक़ीक़त यह है कि उर्दू ज़बान अह्ल दरबार और देहली की तवायफ़ों की ज़बान है। इसको मुल्क की मुरव्वजः ज़बान नहीं कह सकते। मैंने पूरा इरादह कर लिया है कि जहाँ तक मेरा वश चलेगा इस ज़बान की तालीम

को जो हमारे मदरसों में दी जाती है, रोकने की कोशिश करूँगा। मैं फ़ारसी ज़बान के मदाहों में हूँ। यह एक नफ़ीस और पुरतकल्लुफ़ ज़बान है। अगर फ़ारसी ज़बान की तालीम दी जाय तो मुझे कोई एतराज़ नहीं बशर्ते कि हालात ऐसा करने के मुवाफ़िक़ हों। लेकिन बिगड़ी हुई अरबी और बिगड़ी हुई फ़ारसी के मेल से जो ज़बान तैयार की गई है जिसमें हिंदुस्तानी के कुछ थोड़े से अफ़आल व हरुफ़ फ़जाइयः (Conjunction) शामिल कर लिए गए हैं जिसे उर्दू कहते हैं. हरगिज़ इस क़ाबिल नहीं कि उसकी तालीम दी जाय। मुझे बंगाली ज़बान नहीं आती लेकिन मुझे यक़ीन है इस ज़बान में भी बहुत मेल पैदा हो गया है और उसमें संस्कृत के लफ़्ज़ और मुहाविरे बेतहाशा शामिल कर लिए गए हैं। बिहार के मदारिस में जो मुरव्वजः ज़बान में तालीम दी जाती है वह तमामतर इसपर मुशतमल है कि एक मौलवी साहब उर्दू पढ़ा देते हैं और एक पंडित जी हिंदी में लिखे हुए चंद सूरमाओं के तारीख़ी हालात बता देते हैं। इस तारीख़ में हर दूसरे या तीसरे सफ़हे पर संस्कृत के श्लोक जरूर होते हैं। हिंदी के मुतल्लिक़ मेरी राय है कि उसमें ख़्वाहमख़्वाह संस्कृत के लफ़्ज़ों की ठूँसठाँस नहीं होनी चाहिए और न हम यह कर सकते हैं कि हिंदी का नाम लेकर हर गाँव की अलहदः बोली को तसलीम करें। ऐसा करना बिल्कुल इसके ममासिल होगा कि इंगिलस्तान में बच्चों को डवरेस्ट(?) शायर या यार्कशायर की बोलियाँ सिखाई जायँ। हिंदुस्तान की एक ज़बान कुल मुल्क के लिये है जो हिंदुस्तानी कहलाती है, बिल्कुल इस तरह जैसे इंगिलस्तान में अंगरेज़ी है। मेरी दानिस्त में अह्ल बंगाल की ज़बान इसी तरह बंगाली कही जा सकती है। लेकिन चूँकि बंगाली ज़बान अभी हाल ही में वजूद में आई है इसलिये बोलचाल की बंगाली और

तहरीक की बंगाली में फ़र्क़ करना होगा। मैं यह नहीं चाहता कि उर्दू में से फ़ारसी अल्फ़ाज़ चुन चुनकर अलहदः कर दिए जायँ। यह हिंदुस्तानी ज़बानों की खसूसियत खासः मालूम होती है कि वह किसी अजनबी ज़बान के मुहा-विरे और लफ़्ज़ किसी मतलब को अदा करने के लिये आसानी से अपने में शामिल कर लेती हैं इस वास्ते कि खुद उनमें उसके अदा करने के लिये लफ़्ज़ मौजूद नहीं। चुनांच हिंदुस्तानी ज़बानों में बहुत से फ़ारसी अल्फ़ाज़ ने राह पाई। इसी तरह अँगरेज़ी लफ्ज़ भी अपनाए जा रहे हैं और ग़ालिबन् आइन्दः और ज़्यादः अपनाए जायँगे। यह दूसरी ज़बानों के लफ़्ज़ जो हिंदु-स्तानी ज़बानों में अपनाए गए हैं बच्चों को सिखाने होंगे। हम इस बात पर ज़ोर देते हैं कि बच्चों को जो ज़बानें सिखाई जायँ वह मुल्क की हक़ीक़ी ज़बानें होनी चाहिएँ जो आम तौर पर बोली जाती हैं और जिन्हें अवामुन्नास समझ सकें। मसनूयी ज़बानें सिखाने से कोई फ़ायदः नहीं जिन्हें आम लोग नहीं बोलते और न समझ सकते हैं। अगर जदीद तसव्वुरात को अदा करने के लिये जदीद अल्फ़ाज़ की ज़रूरत है तो मैं समझता हूँ यह बेहतर होगा कि अंगरेज़ी अल्फ़ाज़ रायज किए जायँ बजाय इसके कि किसी अजनबी ज़बान के अजनबी अल्फ़ाज़ क़बूल किए जायँ। यह ज़रूरत इस वास्ते पेश आयगी कि हम अँगरेज़ी की आला तालीम के ज़रियेह जदीद तसव्वुरात को अह्ल हिंद के सामने पेश कर रहे हैं। हिंदी और हिंदुस्तानी के मुतल्लिक़ मेरा ख़्याल है कि इन दोनों को इस तरह सिखाना चाहिए गोया वह दोनों एक ज़बान हों जो दो मुख़्तलिफ़ रस्म खत में लिखी जाती हैं। मैंने अभी जो कुछ कहा है उससे अंदाज़ह कर लिया गया होगा कि मैं क़दीम और दक़ियानूसी हिंदी की हिम्मत अफ़ज़ाई के खिलाफ़ हूँ। हिंदी की जो क्लास की, किताबें सूबाजात शुमाल

मग़रबी (यू० पी०) में छापी जा रही हैं उनमें फ़ारसी के ऐसे अल्फ़ाज़ इस्तमाल किए जाते हैं जिन्हें लोग समझ सकें। अगर उन्हीं किताबों को फ़ारसी रस्मखत में लिखा जाय तो वह ऐसी ख़ालिस हिंदुस्तानी ज़बान बन जायगी जिसको रायज होते देखने की मेरी दिली ख़्वाहिश है।" (उर्दू, जुलाई सन् १९३८ ई०. वही पृ० ५१९-५२३)

हिंदी, उर्दू और हिंदुस्तानी के विषय में लेफ्टनेंट गवर्नर जनरल बहादुर की जो राय है वह बहुत कुछ नपी तुली और सटीक है। बड़े बड़े उर्दू के हामियों को चाहे वह अप्रिय भले ही हो पर वह है बिल्कुल खरी और सच्ची। हिंदुस्तानी के प्रेमियों के लिये भी वह कुछ कड़ी हो सकती है पर वह है सचमुच देश की मिलीजुली भाषा हिंदी याने हिंदुस्तानी। आईनों के प्रसंग में पाठक देख चुके हैं कि वहाँ हिंदुस्तानी भाषाके साथ सर्वत्र विधान है नागरी लिपि का और अब ७० वर्ष बाद पाठक देखते हैं कि हिंदुस्तानी भाषा का अर्थ हो गया फारसी लिपि में लिखित चलित हिंदी। हिंदुस्तानी के लिये गोया लाजिम हो गया कि वह फारसी और सिर्फ फारसी लिपि में ही लिखी हो। हिंदुस्तानी भाषा के लिये यह फारसी लिपि की कैद क्यों लग गई, कुछ इसका भी इतिहास है। किंतु यहाँ उस इतिहास की गवेषणा में मग्न हो जाना ठीक नहीं। यहाँ तो इतना ही पर्याप्त है कि वास्तव में यह अंगरेजी सरकार की देख रेख तथा कूटनीति का परिणाम है कि अब हिंदुस्तानी का अर्थ हो गया फारसी लिपि में लिखित चलित हिंदी। हिंदी को हिंदुस्तानी बनने के लिये फारसी लिपि को ठीक

उसी तरह अपनाना पड़ा जिस तरह शरीफ बनने के लिये किसी हिंदू को पाजामा। हिंदुस्तानी का फारसी वेश में सामने आने का नतीजा यह हुआ कि वह दरबारी उर्दू का द्योतक होगई और उसकी ओट में न जाने किस हिंदुस्तानी जबान की पैरवी की गई। आँख के अंधे और कान के पूरे साहबों ने तो उसी बहुरंगी या बनावटी उर्दू का गुणगान किया, परंतु श्री केम्बेल जैसे मर्मज्ञ को यह अंधेरखाता खला और उन्होंने स्पष्ट घोषणा कर दी कि वस्तुतः उर्दू कोई देशभाषा नहीं। हम जिस भाषा को हिंदुस्तानी नाम से याद करते हैं वह और कुछ नहीं फारसी खत में लिखी सरल और सर्वप्रिय हिंदी ही है। हिंदी ही हिंदुस्तान की 'आमफ़हम' ज़बान अथवा राष्ट्रभाषा है। बिहार में भी उसी हिंदी याने हिंदुस्तानी की शिक्षा होनी चाहिए जिसकी युक्तप्रांत में हो रही है।

श्री केम्बल की सत्यनिष्ठा अति सामान्य या फसली न थी। उसकी नींव ठोस, दृढ़ तथा गहरी थी। किसी झोंके से वह हिल नहीं सकती थी। निदान उन्होंने स्पष्ट निर्देश कर दिया कि—

"मैंने ऊपर जो कुछ हिदायात दी हैं उनकी तामील सरकारी ओहददारों पर आयद होती है ताकि वह अपने दफ़ातिर में सिवाय मुरव्वजः ज़बान के दूसरी ज़बानका इस्तमाल न होने दें सिवाय अंगरेज़ी ज़बान के। अंगरेज़ी ज़बान जिन दफ़ातिर में इस्तमाल होती है वहां वह अलाहालः रहेगी। मुझे तवक्क़ा है कि हाईकोर्ट भी इस बारे में हमारा हाथ बटायगा। मुझे पूरा यक़ीन

है कि हाईकोर्ट जज मेरी तरह देसी ज़बानों के ग़लत इस्तमाल के ख़िलाफ़ होंगे" (वही पृ० ५२४)

किंतु हुआ क्या, जरा इसे भी सुन लीजिए-

"These orders were reiterated in 1874, and 1875, and it was directed that all processes, notifications, and proclamations should be made in Hindi; that official records should be kept in Hindi; that petitions should be received, at the option of the presenters in the Hindi or Urdu character; and that a knowledge of the Hindi character should be insisted on in the case of Police ministerial officers. The orders were disregarded and defied for several years by the use in official documents in Behar." Accordingly in the middle of 1880, he directed that this character should be exclusively used from the 1st of January, 1881, throughout the Patna and Bhagalpur Divisions, and forbade the issue from the courts or the reception by the courts of any document, in the Persian character, except as exhibits." (Court Character and Primary Education, 1897, Indian Press P. 35. 6)

ख़ैर, सर जार्ज केम्बल और सर ऐशली ईडन की कृपा और कोशिशों से बिहार में हिंदी लिपि का प्रचार कचहरी के बाबुओं और मुंशियों में तो हो गया। पर

"उर्दूदाँ तबक़े ने बहुत कुछ हाथ पाँव मारे और अपनी सी कोशिश की, लेकिन कुछ सुनवाई न हुई। चार बार यह मसलह लेजिसलेटिव कौंसिल में आया और चारों बार नाकामी हुई। मुल्क की बदनसीबी कि इसे मज़हबी, सयासी और फ़िरक़ःदारी रंग दिया गया और एक मामूली से मुमामिलः ने जो बआसानी तै हो सकता था हमारी शामत आमल से एक नागवार सूरत एख़्तयार करली"। (उर्दू, जुलाई सन् १९३७ ई० पृ० ६५४)

उर्दू के भाग्य और देश के दुर्भाग्य से भारत में एक ऐसी संस्था ने जन्म ले लिया जिसका लक्ष्य ही अहिंदी हो गया। उसके अथक प्रयत्न से

"आख़िर ग़ालबन् सन् १९२९ ई० में हुकूमत ने एक एलान के ज़रिए से तेरह साल के लिये बतौर तजरबः सिर्फ़ क़िस्मत पटनः की दीवानी अदालतों में उर्दू रस्मख़त के इस्तमाल की इजाज़त दी। हामियान उर्दू इससे मुतमैयन न हुए और बराबर मुतालिबः करते रहे कि फ़ौजदारी अदालतों वग़ैरह नीज़ सूबः बिहार के और हिस्सों में भी उर्दू रस्मख़त को एख़्तयारी रस्मख़त क़रार दिया जाय।

"मई सन् १९३७ ई० में हुकूमत ने इन मुतालिबों को किसी क़दर तरमीम के साथ मंजूर कर लिया और यह क़रार पाया कि अर्ज़ियाँ और बयानात तहरीरी वग़ैरह उर्दू हिन्दी दोनों ख़तों में दाखिल किए जायं याने यह कि अगर अर्ज़ी उर्दू में है तो उसकी नक़ल हिंदी में, और अगर हिंदी में हो तो उसकी नक़ल उर्दू में हो। अल्बत्तः संथाल परगनः और क़िस्मत छोटानागपुर को यह रिआयत हासिल न हुई।

"हामियान हिंदी की तरफ़ से इसकी बड़ी मुख़ालिफ़त हुई और हुकूमत

ने दूसरा एलान शाया किया जिसके रू से एलान साबिक मंसूख़ हो गया और यह हुक्म जारी हुआ कि उर्दू रस्मखत कुल अदालतों और सरकारी दफ़्तरों में जहाँ जहाँ पहले कभी रायज था, एख़्तयारी रस्मखत होगा। क़िस्मत छोटानागपुर और संथाल परगनः इस हुक्म से मुस्तसना हैं।

"इसके चंद रोज़ बाद ही हुकूमत की तरफ़ से एक एलान शाया हुआ कि अगर कोई अर्ज़ी या तहरीर बयान उर्दू में दाख़िल हो तो फ़रीक़ मुख़ालिफ़ के मुतालिबे पर उसे उसकी हिंदी नक़ल मिलनी चाहिए। इसका मतलब आम तौर पर यह समझा गया कि यह रिआयत सिर्फ़ हिंदीवालों के लिये है। उर्दूदाँ इससे महरूम रहेंगे। इस ग़लतफ़हमी को रफ़ा करने के लिये १३ जुलाई सन् १९३७ ई० को एक और एलान शाया हुआ जिसका मंशा यह था कि यह रिआयत सिर्फ़ हिंदीदाँ फ़रीक़ ही के लिये नहीं बल्कि इसमें उर्दूदाँ भी शामिल हैं। लेकिन यह मामलः हुकूमत के तै करने का नहीं है। हाईकोर्ट इसका फ़ैसला करेगा जिसकी तवज्जह इस तरह मुनातिफ़ कराई गई है", (उर्दू, जुलाई सन् १९३७ ई० पृ० ६५४-५)

हाईकोर्ट और काँगरेसी सरकार के फैसलों की ताक में लगा रहना उर्दूवालों का काम है। क्योंकि उर्दू ही एक ऐसी बनावटी ऊपरी जबान है जो किसी सरकार की सहायता के बिना एक पग भी आगे बढ़ नहीं सकती। फिर वह सहायता चाहे काँगरेसी सरकार की हो चाहे निजाम हैदराबाद की, मिलनी अवश्य चाहिए उर्दू को। उस उर्दू को जो कभी हिंद की होकर रहना चाहती ही नहीं। खैर, कहना तो हमें यह है कि सन् १८३७ ई० से लेकर आज तक कभी उर्दूवालों ने इस बात की तनिक भी चिंता न की कि

कचहरी की भाषा सचमुच उर्दू हो जाय। उर्दू का प्रयोग जानबूझ कर केवल यह दिखाने के लिये किया गया है कि उर्दू के सच्चे सपूतों ने भी बराबर इस बात का ध्यान रखा है कि उनकी जबान सचमुच एक साफ सुथरी जबान हो, कुछ अरबी, फारसी की बेमेल 'दोग़ली' नहीं। यदि यकीन न हो तो कचहरी या किसी दफ्तर की जबान को किसी सच्चे उर्दू के उस्ताद को दिखाइए और फिर देखिए कि उनकी राय क्या है। उर्दू के फसीह और नामी लेखकों की राय में भी जो जबान जबान ही नहीं ठहरती वही आमफहम क्यों कही जाती है और उसी की रक्षा के लिये पूरे १००वर्ष से इतना बलवा क्यों मचाया जा रहा है, कुछ इसकी खबर है? यदि हाँ, तो फिर इस बात पर ध्यान ही क्यों नहीं दिया जाता कि कचहरियों और दफ्तरों की भाषा को एकदम हिंदुस्तानी याने आमफहम बना दिया जाय? क्यों बराबर जनता की खरी और निष्पक्ष माँग को 'साम्प्रदायिक' कहा जाता है और ज्ञानशून्य दुराग्रह को ठीक माना जाता है? सांकेतिक शब्दों को छोड़िए। उनके आम होने में किसी को संदेह नहीं। पर क्या उनके लिखने की तरकीब भी आम है? क्या हम उसे बिगड़ी फारसी की भोंडी नकल नहीं कह सकते? यदि नहीं, तो हमारा निवेदन है कि बिना निदान के दवा कैसी? रोग का पता नहीं पर दवा जरूर हो! कैसी बढ़िया नीति है?

बिहार की काँगरेसी सरकार जिस जबान का सत्कार कचहरियों में कर रही है और जिसकी रक्षा के लिये डाक्टर मौलाना

अब्दुल हक सरीखे जाहिरी हिंदुस्तानीपरस्त जी जान से तुले हुए हैं उसके कुछ नमूने ये हैं—

(१) नोटिस बनाम नाबालिग़ मुद्दालेह और वली बनिस्बत दर्खास्त वास्ते बहाला वली की वली बगरज मोकद्दमे के।

(२) वही रोज वास्ते इन्फेसाल नातिक मुकदमा हाजा के मुऐयन है।

(३) कुरकी कबले तजबीज साथ हुक्मे तलबी जमानत वास्ते अदाय डिगरी के।

(४) जिनको एतराज बनिस्बत किसिम या तायदाद हकीयत जो दावी किये हुए मजकूर मुवाफिक तफसील जैल के हो उसको चाहिए कि बयान तहरीरी अपने उज्रों का दे।

(५) आइनदा वास्ते समायत मोकद्दमे के मोकर्रर की गई लेहाजा बजरिए इसके इश्तेहार दिया जाता है कि शखसे मोतवफा का अगर दूसरा कोई शखस वारिस हो या दूसरा कोई शखस उसके मैतरके की मुसतहक हो या अगर कोई शखस साएल का इस्तदोआए पर ऐतराज करना चाहता है तो वह तारीख मोकर्रर मजकूर में खुद या बजरिए वकलाए के हाजिर होकर एतराज अपना पेस करे और तारीख मजकूर का अपना दस्तावेज और गवाहान जो वह अपने एतराज का ताईद में पेश करना चाहता हो पेश करने पर आमादे रहे।

यह है बिहार की काँगरेसी सरकार की वह भाषा जो आम-

फ़हम हिंदुस्तानी है, जिसको हिंदुस्तान का बच्चा बच्चा समझता है। यदि आपने कहीं इसके विरोध का नाम लिया तो आप मुई संस्कृत के हामी साबित कर दिए गए और आपको राष्ट्र-द्रोही होने का फतवा चट नसीब हो गया; किंतु आज से डेढ़ दो सौ वर्ष पहले कहीं इस तरह की जबान का निशान भी न था। कंपनी सरकार की हिंदुस्तानी कुछ और ही थी। उसका एक नमूना आपके सामने है। जरा ध्यान दीजिए और दोस्तों की राय भी ले लीजिए। साथ ही भूल न जाइए कि यह वह हिंदुस्तानी है जो फारसी की सरकार में दाखिल होने जा रही है। वह है—

"मैं फलाना रहनेवाला फलानी जगह का हूँ जो फलाना फरयादी रहनेवाला फलानी जगह का फलाने असामी रहनेवाले फलानी जगह के नाम में नालिश की अरजी गुजरानी और मुझको अपने मोकद्दमे का गवाह मोकर्रर किया है इसलिऐ एकरार करता हुँ वो मोचलका लिख देता हुँ के फलानी तारीख फलाने जिले या शहर के मजिसटरट साहब के हुजूर में हाजिर होकर गवाही दूँगा और जिस सूरत में के हाजिर न हुँ जेतना डाँड मुझपर ठहरे जिसके देने का हुक्म मजिसटरट साहेब की तरफ से हो और जेतना खरच के मेरी गैरहाजिरी से सरकार की तरफ से पाया जावे वह सब अपने जिममे पर लाजिम समझुँ इसलिऐ यह दसतावेज मुचलके के तौर पर लिख दी के वकत पर काम आवे। लिखा तारीख फलानी सन फलाना मोताबिक फलाने का" (अँगरेजी सन् १८०७ साल ९ आईन १५ दफा ३ तफसील)

सोचने और समझने की बात है कि 'फ़ारसी' के राज्य में जिस हिंदुस्तानी का बोलबाला था वही हिंदुस्तानी आज 'हिंदु-

स्तानी' के राज्य में रसातल क्यों भेजी जा रही है और क्यों उर्दू के नामधारी लोग सदा से उसका विरोध कर एक ऐसी बनावटी भाषा की ईजाद में लगे हैं जो वास्तव में कहीं की भाषा नहीं बल्कि उनके दिमाग का खलल और इम्तयाज का फसाद है। अदालत की सरकारी जबान के इतिहास पर ध्यान दीजिए और प्रत्यक्ष देख लीजिए कि उर्दूवालों का रुख किधर है, फारसी-अरबी के प्रचार की ओर अथवा ठेठ बोलचाल की ओर ? हिंदुस्तानी हिंदुस्तानियों की चीज है, दूसरों की नहीं। जो आज भी अपनी पीढ़ी का पता किसी बाहर के भूखंड या टुकड़े से लगाते हैं और कल तक अपने को हिंदुस्तानी तक कहने में लजाते थे वे भला हिंदुस्तानी को कब अपना सकते हैं। उनका दृष्टिदोष उन्हें कब साफ देखने देगा ? मजहब का नाम तो व्यर्थ ही लिया जाता है सवाल तो 'इम्तयाज' और ठसक का है।

अच्छा होगा, प्रसंगवश थोड़ा 'हिंदुस्तानी' की उस परिभाषा पर विचार कर लिया जाय जो अंजुमन तरक्की उर्दू 'हिंद' की देख रेख में अभी उस दिन पटने में गढ़ी गई है। बात यह हुई कि श्री बलदेव सहायजी ने २४ नवंबर सन् १९३६ ई० को सीनेट में देशभाषाओं को शिक्षा का माध्यम बनाने पर जोर दिया और फलतः हिंदुस्तानी की व्याख्या भी कुछ इस प्रकार की कर दी गई जिससे बिहार को कुछ महत्व मिल गया। उसमें कहा गया--

"हिन्दुस्तानी से इस दफ़ा में वह ज़बान मुराद है जो बिहार के हिन्दू

मुसलमान आम तौर पर बोलते हैं और जो नागरी या उर्दू रस्म ख़त में लिखी जाती है।" (उर्दू, जुलाई सन् १९३७ ई० पृ० ६५६)

बिहार के विचार से तो इस परिभाषा में कोई दोष न था पर बिहार की 'उर्दू कमेटी' की दृष्टि में यह खली। निदान उसने समूचे हिंद के उर्दू-प्रेमियों को जुटा कर निश्चित कर दिया कि—

"हिन्दुस्तानी से मुराद वह ज़बान है जो इस मुल्क की हिन्दू मुसलमान क़ौमों के मेलजोल और एक दूसरे की तहज़ीब से मुतासिर होने से बनी है; जिसे शुमाली हिन्द के बाशिन्दे आम तौर से बोलते हैं, और हिन्दुस्तान के दूसरे हिस्सों के रहने वाले समझते हैं; जो अरबी, फ़ारसी और संस्कृत के नामानूस लफ्ज़ों से ख़ाली है; और जो उर्दू, देवनागरी या किसी दूसरे रस्म-ख़त में लिखी जाती है।" (वही, पृ० ६६१)

हिंदुस्तानी की प्रकृत परिभाषा में 'क़ौम', 'तहज़ीब' और 'नामानूस' शब्द यों ही नहीं रख दिए गए हैं बल्कि वस्तुतः ये ही तीन गुण ऐसे हैं जिनसे भविष्य में हिंदुस्तानी की सारी सृष्टि होने वाली है। किंतु विकट प्रश्न उपस्थित यह हो जाता है कि जब कौमों और तहजीबों का मेलजोल हो गया और उसका एक रूप भी सामने आ गया तब उनकी अलग दुहाई देने की जरूरत क्या रही। परिभाषा में उनकी जरूरत क्यों पड़ी? यही बात 'नामानूस' पर भी लागू है। अब इस 'नामानूस' का फैसला कौन करेगा? देहली दरबार या लखनऊ सरकार? 'शुमाली हिंद के बाशिंदे' या 'दूसरे हिस्सों के रहने वाले?' शहरों के 'नजीब' या गाँव के 'भैया'? भाई, सच्ची बात तो यह है कि यह 'तारीफ़' नहीं

'ताकीद' है। इसमें इस बात पर जोर दिया गया है कि 'क़ौम' 'तहज़ीब' और 'नामानूस' की 'इम्तयाज़' हिंदुस्तानी के लिये अनिवार्य है। अर्थात् हिंदुस्तानी वह जबान है जो इम्तयाजियों की कैद में रहे और कहीं भूले भटके किसी हिंदुस्तानी के यहाँ पहुँच जाय। बस, इसके आगे वह और कुछ भी नहीं है।

हिंदुस्तानी की जब एक निराली परिभाषा गढ़ ली गई तब इस बात की चिंता हुई कि उसका एक निराला शब्दकोष भी तैयार कर लिया जाय। बिहार की भूमि इसके लिये भी उपजाऊ दिखाई पड़ी। बिहार के माननीय शिक्षा-मंत्री डाक्टर सैयद महमूद की कृपा से २२ मार्च सन् १९३८ ई० को पटना विश्व-विद्यालय के सिंडिकेट के कमरे में एक बैठक हुई जिसके सभापति डाक्टर राजेन्द्र प्रसाद थे। उसमें हिंदुस्तानी के विषय में कहा गया कि—

"हिन्दुस्तानी वह ज़बान है जो शुमाली हिन्द में मामूली बोलचाल में और आपस के मेल मिलाप के वक्त इस्तमाल की जाती है और जो हिन्दी और उर्दू की मुश्तरक बुनियाद है" (उर्दू, अपरैल सन १९३८ ई० पृ० ४५५

बिहार की उदार 'हिंदुस्तानी कमेटी' की सच्ची लगन को ता देखिए कि तुरंत उसने एक 'हिंदुस्तानी लुग़त' का बीड़ा उठा लिया और चट उसका सारा भार सौंप दिया हिंदुस्तानी के विधाता डाक्टर मौलाना हक को। याद रहे यह वही मौलवी हक साहब हैं जिनकी कोशिशों से 'अंजुमन तरक्की उर्दू' कायम हुई और वह यहाँ तक पसरी कि उसके घर हैदराबाद में तो हिंदी और देश की

भिन्न भिन्न भाषाओं, विशेषतः मराठी और तैलंगी की जान के लाले पड़ गए और समूचे हिंद में उर्दू की आँधी छा गई। किंतु फिर भी उन्हीं के सफल हाथों में हिंदुस्तानी का भार सौंपा गया, उस हिंदुस्तानी का जो 'शुमाली हिंद' की मामूली बोलचाल की जबान है। मानो जनूबी हिंद में (हैदराबाद) वे इसी का अभ्यास करते रहे हैं। कहा जाता है कि सफल खिलाड़ी दाव नहीं चूकता, फिर मौलाना हक ही क्यों चूकने लगे? वह भी उस समय जब उनके अगल बगल दाएँ बाएँ जामा मिल्लियः देहली और दार-उलमुसन्नफीन आजमगढ़ जैसी हिंदुस्तानीपरस्त संस्थाओं के प्राण बैठे हों। उन्होंने चट उसको अपने सिर आँखों पर ले लिया और अपनी हिंदुस्तानी नीति की स्पष्ट घोषणा भी कर दी। वह निष्पक्ष नीति है—

"जिसमें वह तमाम अरबी फ़ारसी लफ्ज़ आजाने चाहिए जो मुस्तनद हिन्दी मुसन्निफ़ों ने इस्तमाल किए हैं, इसी तरह वह तमाम हिन्दी और संस्कृत अल्फ़ाज़ भी शरीक किए जायँ जो मुस्तनद उर्दू मुसन्निफों के कलाम में पाए जाते हैं।" (वही, पृ० ४५७)

ध्यान देने की बात यहाँ यह है कि अब 'हिंदुस्तानी लुग़त' के लिये हिंदू-मुसलिम-कौम का प्रश्न नहीं रह गया, बल्कि उसको हिंदी-उर्दू प्रश्न बना दिया गया। देखने में तो सांप्रदायिकता से जान बची, पर असलियत यह है कि इससे उर्दू का बड़ा भारी हित हो गया। वह कैसे, इसे भी देख लें।

दुनिया जानती है कि उर्दू के मैदान में आने और हरएक की

ज़बान पर चढ़ने के पहले मुसलमान जिस देशभाषा को अपनाते थे वह हिंदी ही थी। हिंदी ही में उनकी काव्यरचना भी चलती थी। उत्तर के मुसलिम कवियों की तो बात ही क्या, दक्खिन के वली तक ने हिंदी को महत्त्व दिया है। अब यदि 'हिंदुस्तानी लुग़त' के विधाता 'उर्दू मुसन्निफ़ों' की जगह 'मुसलिम मुसन्निफ़ों' कर देते हैं तो उनको उन सभी शब्दों को अपनाना पड़ेगा जो हिंदी के मुसलिम कवियों की रचनाओं में भरे पड़े हैं और जो आज भी देश के एक छोर से दूसरे छोर तक व्याप्त हैं। निदान मुसलिम मुसन्निफ़ों की कैद खोटी समझी गई। इसी तरह यदि हिंदू मुसन्निफ़ों की बात कही जाती तो उसमें ऐसे भी हिंदू शायरों की शायरी और कलाम आ जाते जो उर्दू की पाबंदी ही नहीं करते। रही 'मुस्तनद' होने की बात। उस पर जम कर विचार करना चाहिए और बिहारी भाइयों तथा देशी अक़्लमंदों को साफ़ साफ़ बता देना चाहिए कि इसका रहस्य क्या है और क्यों उर्दू के 'वली' मौलाना हक 'मुस्तनद' के साथ करसी सीझ रहे हैं, और बिहार की 'हिंदुस्तानी कमेटी' उनके साथ सत साध रही है। बात यह है कि मौलाना हक 'मुस्तनद' का रहस्य जानते हैं और 'हिंदुस्तानी कमेटी' उन्हीं की मनभावती एक हिंदुस्तानी संस्था है। फिर वह सत न साधे तो क्या करे! उसका अपना भी तो कोई धर्म है! शायद यही कि औरों के लिये अपने आपको मिटा दे!

'मुस्तनद हिंदी मुसन्निफ़ों' का मंत्र सदा से यही रहा है कि—

"ब्रजभाषा भाषा रुचिर कहै सुमति सब कोय।
मिलै संस्कृत पारस्यौ पै अति प्रगट जु होय॥
व्रज मागधी मिलै अमर नाग यवन भाखानि।
सहज पारसी हू मिलै षट विधि कहत बखानि॥"

(काव्यनिर्णय, भाषा लक्षण, सन् १७४६ ई०)

'यवन भाखानि' और 'सहज पारसी' आदि पदों के विषय में कुछ कहने की आवश्यकता नहीं रही। महात्मा गांधी से लेकर श्री जिन्ना तक सभी लोग आसानी से उन्हें समझ सकते हैं और सहूलियत के साथ देख सकते हैं कि वस्तुतः हिंदी के आचार्य किस प्रकार मुसलिम बातों को अपनाते हैं और वे किस जीवट के व्यक्ति हैं। हाँ, बिहार के प्रसंग में इस 'मागधी' की भी कुछ चर्चा हो जानी चाहिए। भाषा के क्षेत्र में बिहारी सज्जन किस दृष्टि से देखे जाते हैं, इसके कहने की कदाचित् कोई आवश्यकता नहीं। उर्दू के लोग उनकी जबान से कितनी दूर रहना चाहते हैं, इसका कुछ पता शेख इमाम बख्श 'नासिख़' की उस करनी से लगाया जा सकता है जिसका परिचय उन्होंने अर्जामाबाद (पटना) से भागते समय दिया था। बिहारियों के बीच रहने से उनकी जबान खराब हो रही थी। पर हिंदी का आचार्य भिखारीदास भाषा को कोई छुईमुई जैसी चीज नहीं समझता। उसकी दृष्टि में उसमें मागधी का भी उचित पुट दिया जा सकता है। भला कौन कह सकता है कि कितने दिनों से हमारे देश के आचार्य भाषा के 'षट्रस' में मगन हैं और अन्य

भाषाओं के सुघर शब्दों को अपनाने में लीन हैं ! जिसे अपनी ही सुधि नहीं उसके चपलरव पर ध्यान ही क्यों दें ? उसे भी अपनी बकवास मिटा लेने दें। पर हाँ, भाषा की परंपरा तथा मर्यादा को उसके हाथ में सौंपने की क्रूर चेष्टा न करें। व्यर्थ में किसी शिष्ट और उदार भाषा पर प्रहार न करें। आखिर विश्व के अन्य भूभागों में भी तो मुसलिम बसते हैं ? उन्हीं का मजहब क्यों नहीं पकड़ते ? क्या हिंद के 'इम्तयाज़ी' मुसलमान फारस के फारसी मुसलमानों से बढ़कर फारसीभक्त या खुदापरस्त हैं ? हम तो नफ्सपरस्ती को खुदापरस्ती के रूप में नहीं देख सकते। जो देख सकते हैं वे शौक से इसे मजहब की चीज समझें। हमें तो बस जबान का मजहब समझना है, 'इम्तयाज़' का मंत्र हरगिज नहीं।

शाहजहानाबाद के 'उर्दू-ए-मुअल्ला' में जो 'ताज़ः ज़बान' ईजाद की गई उसकी प्रेरणा दक्खिन से हुई थी। कहा जाता है कि औरंगाबादी 'वली' के 'दीवान' ने दिल्लीवालों में यह हरकत पैदा कर दी कि शाह हातिम ने इस नई जबान में एक 'दीवान-ज़ादः' की रचना कर डाली और देहली में एक नवीन ढंग की रचना का उदय हुआ जो आज उर्दू के रूप में प्रतिष्ठित और ख्यात है। अस्तु, आवश्यक यह हो गया कि कुछ दक्खिन के दोस्तों की करतूतों को भी देख लिया जाय और भोलीभाली जनता के सामने प्रत्यक्ष रख दिया जाय कि उनका लक्ष्य क्या है। 'मुस्तनद' और 'प्रिय' होने के लिये उन्हें क्या क्या करना पड़

रहा है। अच्छा होगा, इसके लिये भी औरंगजेब का समय चुना जाय और साफ साफ दिखा दिया जाय कि दरहकीकत 'हमारी ज़बान' किसके मुँह की जबान है।

आशा है आज भी काँगरेसी सरकार को 'भूषण' याद होंगे और उनकी 'शिवा बावनी' तो हमारे कुछ दोस्तों को भूल ही नहीं सकती। पर हमारा उनसे नम्र निवेदन यह है कि कृपया एक बार उसी समय की शेख मुल्ला 'नसरती' की रचनाओं पर भी गौर करें और फिर देखें कि मामला क्या है। प्रसंग भाषा का है। अतएव उसी के बारे में 'नसरती' की राय सुन लीजिए और कुछ देख भी लीजिए कि आखिर क्यों, कौन सा दावा पेश किया जा रहा है। उसका कहना और सदर्प कहना है कि—

"दखिन के शाअराँ की मैं रविश पर शेर बोल्या नहीं।
हुआ क्या ? सब गुज़र गए तो देखो हाज़िर दो दफ़्तर हैं।"

(उर्दू, अक्टूबर सन् १९३४ ई० पृ० ९३०)

अच्छा ! तो आप की 'रविश' क्या है ? जरा सुन लीजिए—

"दखिन का किया शेर जों फ़ारसी।" (वही, पृ० ९३३)

लेकिन

"फ़साहत में गर फ़ारसी खुश कलाम, धरे फ़ख़ हिन्दी बचन पर मुदाम।
वगर शेर हिन्दी के बाज़े हुनर, न सकते हैं ल्या फ़ारसी में सँवर।
मैं इस दो हुनर के खुलासे कों पा, किया शेर ताज़ः दोनों फ़न मिला।"

(वही, पृ० ९३३)

शेख मुल्ला नसरती की यह 'फ़ारसी रविश' और उनका यह 'ताज़: शेर' पुकार पुकार कर गोहार लगा रहे हैं कि वे खुदबखुद पैदा होने नहीं दिए जाते बल्कि जबरदस्ती पैदा किए जा रहे हैं। सो भी सिर्फ इसलिये कि 'दक्खिनी' का दक्खिपनीपन कहीं खड़ा न रह जाय और इसका दफ़्तर फारसी से अछूता रह जाने के कारण नगण्य हो कहीं नष्ट न हो जाय।

'नसरती' का पता अभी तक बहुतों को नहीं है, पर उर्दू के बाबा आदम 'वली' को कौन नहीं जानता ? 'सरस्वती' अक्टूबर १९३८, के पाठक उनकी 'हिंदी' से कुछ न कुछ अभिज्ञ हो चुके हैं। उनको इस बात का पूरा पूरा पता हो गया है कि किस प्रकार ईरान और तूरान में प्रसिद्ध होने के लिये 'वली' आगे बढ़ रहे थे और अंत में शाह शादउल्लाह गुलशन की नसीहत से खासे फारसी बन गए। शाह साहब ने उनसे एक रोज बजात खुद फरमाया—

"ईं हमः मज़ामीन फ़ारसी कि बेकार उफ़्तादह अन्द दर रेख़्तः बकार बबर। अज़ तू कि मुहासिबः ख़्वाहिद गिरफ़्त।"

"यह इतने सारे फ़ारसी के मज़मून जो बेकार पड़े हैं उनको अपने रेख़्ते में इस्तमाल कर। कौन तुझसे जायज़ः (हिसाब) लेगा।" (उर्दू, अपरैल सन् १९३७ ई०, पृ० १७९)

'नसरती' ने अपने आप ही यह प्रयत्न किया कि 'दक्खिनी' हिंदी को 'फ़ारसी की रविश' पर ढाल दिया जाय और 'वली' ने शाह 'गुलशन' के आदेश से फारसी 'मज़ामीन' को अपनाने की

चेष्टा की। नतीजा आप के सामने है। दक्खिनी हिंदी न रह फ़ारसी हो चली।

'फ़ारसी रविश' और 'फ़ारसी मज़ामीन' के आ जाने से फ़ारसीवालों को 'दक्खिनी' में भी कुछ दिखाई देने लगा, और शाह हातिम जैसे उस्ताद ने भी रेखता में कुछ कहना शुरू कर दिया। पहले तो उनके सामने 'वली' का आदर्श था पर बाद में उन्होंने अपना आदर्श बदल दिया और घोर शब्दों में घोषणा कर दी कि—

"व रोज़मर्रः देहली कि मिरज़ायाने हिन्द व फ़सीह गोयाने रंद दर मुहावरः दारंद मंजूर दानिस्तः।"

खैर, अभी तक गनीमत थी। मिरजा और फसीह लोगों की जबान समझी जाती थी। उसका घर तो कहीं था। पर इसके आगे शाह हातिम साहब कुछ और भी पते की बात फरमा जाते हैं और साफ इशारा कर देते हैं कि अब 'उर्दू-ए-मुअल्ला' में क्या होनेवाला है। जरा सुनिए तो सही, कैसी नफीस बात है—

"सिवाय आँ, ज़बान हर दयार, ता बहिन्दवी, कि आँरा भाका गोयन्द मौक़ूफ़ नमूदः फ़क़त रोज़मर्रः, कि आमफ़हम व ख़ासपसंद बूदः, एख़्तियार करदः।" (दीवानज़ादः का दीबाचः सन १७५५ ई०)

सोचने, समझने तथा विचार करने की बात यह है कि इससे कुछ ही दिन पहले अर्थात् सन् १७४ ई० में आचार्य भिखारीदास 'यवन भाषा' तथा 'पारसी' को सहज रूप में अपनाते रहने की

अनुमति देते हैं और इधर उर्दू के मुस्तनद मुसन्निफ यह राय कायम करते हैं कि

"ज़बान हर दयार, ता बहिन्दवी, कि आँरा भाका गोयन्द मौक़ूफ़ नमूदः ।"

बेचारी 'हिन्दवी' और 'भाका' ने क्या अपराध किया था कुछ इसका भी पता है ? क्या रोजमर्रः या बोलचाल का होना भी कोई अपराध है ? यदि नहीं तो शाह हातिम के इस प्रकोप का कारण क्या ? यदि हाँ, तो हिन्दुस्तानी के लिये बोलचाल की दुहाई क्यों ? सुनिए सैयद इंशा का फरमान क्या है और हिंदू किस हैसियत के जीव हैं। उनका उल्लास है–

"बर साहेब तमीज़ान पोशीदा नेस्तकि हिन्दुआन सलीक़ा दर रफ़्तार व गुफ़्तार व खोराक व पोशाक अज़ मुसलमानान याद गिरफ़्ता अन्द। दर हेच मक़ाम क़ौल व फ़ेल ईहाँ मनात एतबार नमी तवानद शुद। बिलजुमला जमयेकि दर शाहजहानाबाद मीबाशन्द दो फ़िरक़ा अन्द। बाज़े बसुहबत मुसलमानान रसीदा व बाज़े महरूम माँदा। फ़िरक़ा अव्वल अज़ गुफ़्तन दया व कृपा बमाने मेहरबानी व रिच्छा, बाराय मकसूर व तशदीद जीम फ़ारसी बा हाय मुत्तहद गश्ता, बमाने निगहबानी।" (दरियाये लताफ़त, अंजुमन तरक्क़ी उर्दू, १९१६ ई०, पृ० ६)

हिंदुओं की ढिठाई और हठधर्मी तो देखिए कि चलना फिरना, बोलना चालना, खाना पीना, ओढ़ना बिछाना सब कुछ तो सीखा मुसलमानों से, पर दीन और मजहब की बातें न जाने कहाँ से सीख लीं और मुसलमानों के संसर्ग में अच्छी तरह आ जाने पर भी कुछ ऐसे के ऐसे ही बने रह गए 'कि किसी भी बात

में इनका क़ौलफ़ेल एतबार के क़ाबिल नहीं' हुआ। होता भी कैसे? 'हिंदवी' और 'भाका' को मार भगाने पर भी तो हठी हिंदू उर्दू के फसीहों से मेहरबानी के लिये 'कृपा' और 'दया' का ही व्यवहार करते थे। 'कृपा' और 'दया'! मुई संस्कृत के शुद्ध तत्सम!! इसी से तो सैयद इंशा को यह घोर फतवा देना पड़ा कि–

"व मतलब अज़ीं तूल मक़ाल ईं बूदा अस्त कि मुहावरा उर्दू इबारत अज़ गोयाइये अहल इसलाम अस्त।" (वही० पृ० १५)

अच्छा, यही सही! सही उर्दू अहल इसलाम की ही सही। लेकिन नहीं। इसलाम के भीतर भी तो बहुत से कुँजड़े कबाड़े और बेहने भर गए हैं। फिर उनकी जबान सनद कैसे हो सकती है। सनद के लिये तो कुछ और ही होने की जरूरत पड़ती है। चुनांचः सैयद इंशा साफ साफ बता देते हैं कि—

"सिवाय बादशाह हिन्दुस्तान कि ताज फ़साहत बर सर ओ मीज़ेबद, चन्द अमीर व मुसाहिब शाँ व चन्द ज़न क़ाबिल अज़ क़िस्म बेगम व ख़ानम व कसबी हस्तन्द, हर लफ़्ज़े कि दरींहा इस्तमाल याफ़्त ज़बान उर्दू शुद न ई कि हरकस कि दर शाहजहानाबाद मीबाशद हरचि गुफ़्तगू कुनद मोतबर बाशद।" (वही० पृ० ६४)

मुस्तनद उर्दू के लिये जिन चंद लोगों का उल्लेख किया गया है उनके लिये भी अभी एक शर्त बाकी है। कोई 'बादशाह' या 'अमीर', या 'मुसाहिब', या 'बेगम', या 'ख़ानम', या 'कसबी' होने से ही जबान के लिये प्रमाण नहीं हो सकता। इसके लिये तो असल शर्त यह है कि वह कुलीन हो और उसके माता-पिता

पक्के शाहजहानाबादी हों। वहीं की पाक खाक से बने हों। तभी तो सैयद इंशा साफ फरमाते हैं—

"लेकिन असलश शर्त अस्त कि नजीब बाशद याने पिदर व मादरश अज़ देहली बाशद दाखिल फ़ुसहाय गश्त।" (वही० पृ० ६६)

सैयद इंशा की 'मुस्तनद उर्दू' की कसौटी खरी न उतरी। लखनऊ के चमक उठने पर उसकी छबि मारी गई। वह मंसूख़ कर दी गई और उसकी जगह उस जबान की कठपुतली खड़ी की गई जिसमें 'आँख' की जगह 'चश्म' और 'कान' की जगह 'गोश' दिखाई देने लगे। 'नासिख़' की कृपा से लखनऊ 'इस्फ़हान' हो गया और मुस्तनद उर्दू से सदा के लिये हिंदी को बिदाई मिल गई। 'नासिख़' ने कड़ा नियम बना दिया कि—

"जिस लफ़्ज़ हिन्दी में अह्ल उर्दू ने तसर्रुफ़ करके लफ़्ज़ बना लिए हैं उनके सिवा हिन्दी लफ्ज़ों का इस्तमाल जायज़ नहीं और जिस लफ़्ज़ में तसर्रुफ़ न हुआ हो उसको इस्तमाल फ़सहा के मुताबिक बाँधना चाहिए।" (जलवये खिज़्र, हिस्सा दोयम, आरा, सन् १८८४ ई० और पृ० ३२९)।

और "चूँकि इसमें हर शख़्स को दख़ल देना मुश्किल था इसलिये असूल इसका यह रखा कि फ़ारसी और अरबी अल्फ़ाज़ जहाँ तक मुफ़ीद माने मिलें हिन्दी अल्फ़ाज़ न बांधो।" (वही, जिल्द अव्वल, पृ० ८४ फुटनोट)

'नासिख़' का जादू सर पर सवार हो गया और—

"बाद ग़दर के अह्ल लखनऊ की सुहबतों ने तमाम हिन्द में असूल ज़बान लखनऊ को जारी कर दिया और देहली ने भी अपनी पुरानी गुदड़ी में नये नये पैबंद लगाए और बहुत सी पुरानी तरकीबों और पुराने मुहावरों को छोड़

कर लखनऊ की तरकीब अख़्तियार कर ली जिसका एक़रार···किसको नहीं। नस्रवालों ने नस्र की और नज़्मवालों ने नज़्म की दुरुस्ती की। सरकारी स्कूलों में बावजूद 'क़वायद गिलक्रिस्ट' और 'दरिया-ए-लताफ़त' के नई किताब क़वायद उर्दू में नासिख़ के असूल पर लिखवाई गई। अह्ल अख़बार ने अपने अपने मुक़ाम पर इबारत का ढंग दुरुस्त किया। ग़रज़ सब एक ही रंग में डूब गए।" (वही, दोयम पृ० ४६३)

अस्तु। अब तो यह कहने की जरूरत न रही कि शेख मुल्ला नसरती से लेकर शेख इमामबख्श 'नासिख़' तक हम सभी उर्दू के मुस्तनद मुसन्निफों को एक ही जहाद में मशगूल पाते हैं। सभी हिंदी शब्दों को अपनी जबान से निकाल फेंकने की पाक कोशिश में हैं जो 'जात' के हिंदू हैं। उनका हाल बकौल खुद मौलाना हक यह है कि—

"उस वक्त के किसी हिंदू मुसन्निफ़ की किताब को उठा कर देखिए। वही तर्ज़ तहरीर है और वही असलूब बयान है। इब्तदा में बिस्मिल्लाह लिखता है। हम्द व नात व मन्क़बत से शुरू करता है। शरई इस्तलाहात तो क्या हदीस व नस क़ुरान तक बेतकल्लुफ़ लिख जाता है। इन किताबों के मुतालः से किसी तरह मालूम नहीं हो सकता कि यह किसी मुसलमान की लिखी हुई नहीं।" (उर्दू, वही, जनवरी सन् १९३३ ई० पृ० १४)

फिर भी आज तक किसी भी हिंदू की जबान 'मुस्तनद' न मानी गई, बल्कि उलटे यह धौंस जमा दी गई कि—

"हिन्दुओं की सोशल हालत उर्दू-ए-मुअल्ला को उनकी मादरी ज़बान नहीं होने देती।"

खैर, इस प्रसंग को यहीं छोड़ तनिक यह भी देख लीजिए कि 'हिंदुस्तानी लुग़त' के विधाता डाक्टर मौलाना अब्दुल हक के 'पंद्रह रोज़ः अखबार' में इस 'कमेटी' के बारे में क्या प्रचार किया जा रहा है। दूर जाने की जरूरत नहीं। अभी अभी दावे के साथ उसमें कहा गया है कि--

"हिन्दोस्तानी ज़बान की जो तारीफ़ की गई है, उसमें साफ़ तौर से मज़कूर है कि यह ज़बान सिर्फ़ वही है जो शुमाली हिन्दोस्तान में आम तौर से बोली जाती है, जिससे अंदाज़ह होता है कि आजकल की हिन्दी को हिन्दोस्तानी नहीं समझा जाता। लेकिन डिक्शनरी मुस्तलहात और रीडरों की तरतीब में इस हिन्दी को फिर तसलीम कर लिया गया है और कहा गया है कि दोनों ज़बानों से अल्फ़ाज़ लिए जायँ। दिल के चोर को छिपाने की यह कोशिश हिन्दीनवाज़ों की तरफ़ से एक अरसः से हो रही है। कुछ इस क़िस्म की सूरत इस कमेटी में भी नज़र आती है। बहरहाल उस ज़ेहनियत को देखते हुए जो हिन्दीपरस्तों में फैलती जा रही है और जिसकी नशोनुमा गांधी जी बड़े ज़ोरशोर से कर रहे हैं, इस कमेटी से कोई ख़ास उम्मीद वाबस्तः करना मुश्किल मालूम होता है।" (हमारी ज़बान, वही १ सितम्बर १९३९ ई० पृ० ११)

'डिक्शनरी' का कोई रूप तो अभी हमारे सामने नहीं आया पर भाग्यवश 'महमूद सीरीज़' की 'रीडरों का दर्शन हो गया। उसकी रचना जिस हिंदुस्तानी जबान में हो रही है उसका नमूना देखिए। हम हिंदुओं की आदत हो गई है कि 'राम' ही से काम का आरंभ करते हैं और समझते भी हैं उन्हीं को एक आदर्श राजा।

इसलिये प्रमाण के लिये 'श्रीरामचंद्रजी' को ही ले लीजिए। उस 'सीरीज़' में आपका नंबर ४० है। इसलिये किसी को किसी प्रकार की अड़चन भी न होगी, यह नंबर शामियों को अत्यंत प्रिय है। अच्छा, तो हमारी सच्ची हिंदी हिंदुस्तानी का नमूना यह है—

"बहुत पुराने जमाने की बात है कि अयोध्या में दशरथ नाम के एक राजा राज करते थे, उनके राज में रैयत बड़ी खुशी के साथ अपनी जिन्दगी बिताती थी। बादशाह इतने अच्छे थे कि वे कभी किसी को किसी चीज की तकलीफ न होने देते थे। सभी रियाया उनसे खुश थी। बादशाह के तीन रानियाँ थीं। तीनों के नाम कौशल्या, कैकेयी और सुमित्रा थे। ये तीनों रानियाँ इस तरह हिलमिल कर रहती थीं मानो तीनों अपनी ही बहन हों, सभी रियाया और रानियों को खुश देखकर बादशाह का भी दिल खुशी के मारे फूल उठता था।" (श्रीरामचन्द्र जी पृ० १)

'राजा' और 'प्रजा' की जगह यदि 'बादशाह' और 'रैयत' को मिल गई तो कोई बात नहीं पर 'सगी' की जगह 'अपनी' को क्यों दे दी गई ? हैरान न हों बल्कि बोलचाल के मुहावरों को अच्छी तरह नोट कर लें। नहीं तो फिर कभी किसी दूसरे राज में यह बोली नसीब न होगी। देखिए तो सही, कितनी सटीक बोल चाल की ठेठ हिंदुस्तानी बानी है। आप कहते हैं—

"बादशाह ने इन्हें पढ़ाने के लिये एक गुरु बहाल कर दिया। गुरु जी सभी लड़कों के पढ़ाने के तरीके से पूरे वाकिफ थे। वे हर घड़ी इन्हें अच्छे रास्ते पर चलने की तालीम देते थे। कुछ ही दिनों में बादशाह के चारों बेटों ने सभी तालीम अच्छी तरह सीख ली।" (वही पृ० २)

और तो और गुरु वशिष्ठजी की 'बहाली' तो गजब ढा रही है। न जाने किस अपराध में बूढ़े बाबा बरखास्त कर दिए गए थे! 'तालीम सीख ली' भी कुछ कम नहीं है। 'तालीम' और 'बहाल' का ऐसा ताजा प्रयोग बिहारी हिंदुस्तानी के सिवा अन्यत्र कहाँ मिलेगा। 'तसल्ली' के लिये कुछ तसल्ली का हाल भी देख लें। 'उन्हें बल का काम करने के लिये तसल्ली' देते रहें; प्रोत्साहन कदापि नहीं। रही 'राजा' की बात। सो उसके विषय में नोट यह कर लें कि अति प्रचलित होने पर भी वह आमफहम नहीं है क्योंकि 'संसकिरित' में भी उसका प्रयोग होता है और बहुत से लोग, यहाँ तक कि पक्के मुसलमान भी अपने आपको शान के साथ 'राजा' कहने में कोई हर्ज नहीं समझते। इसलिये यह जरूरी है कि राजा की जगह 'बादशाह' को चालू कर दिया जाय और कुछ दिनों में यह दिखा दिया जाय कि राजा दशरथ सचमुच राजा नहीं बल्कि 'बादशाह' थे। उन्हें राजा तो कट्टर हिंदीपरस्त कहने लगे हैं जो रातदिन फारसी, अरबी लफ्जों को निकाल फेंकने की चिंता में लगे रहते हैं।

पंडित सेवाधर झा की 'हिंदीनवाज़ी' और 'दिल के चोर को छिपाने की कोशिश' आपके सामने है। उसका परिणाम हिंदी के लिये कितना सुखद तथा हितकर है, इसके कहने की जरूरत नहीं। अब तनिक श्री अनीसुर्रहमान की लेखनी के मुँह से 'जगद्गुरु' की 'ज़बान' सुन लीजिए और भूल न जाइए कि यह जगद्गुरु शंकराचार्य की प्यारी जबान है। आप फरमाते हैं—

"हाँ बेशक ! हिन्दू धर्म के हिसाब से तू यकीनी काबिले-नफरत है।" (जगद्गुरु और भंगी, नं० ६६ पृ० ६)

शंकराचार्य की जबान पर 'मज़हब' की जगह 'धर्म' कैसे आ गया, यही आश्चर्य है। शायद 'मज़हब' को 'नफ़रत' से पाक रखने के लिये। खैर, पंडितों की गुफ्तगू भी देख लीजिए। कितनी आमफ़हम, कुदरती और सटीक है ! संतान, स्वर्ग और नरक को आज कौन समझता है !

"पंडित रामलाल---औलाद से सिवा रंज के कुछ नहीं मिलता।

पंडित शामलाल-औलाद दुनिया को जहन्नुम बना देती है।

पंडित करताकिशुन-औलाद दुनिया को जन्नत बना देती है।"

(रंग में भंग, नं० ६७, मजीद मल्लिक, पृ० १२)

अच्छा, रीडरों के प्रसंग को अभी अलग रखिए और सरकार की सच्ची रीडरों को मैदान में आ जाने दीजिए। फिर देखिए कि बोलचाल की हिंदुस्तानी जबान क्या है। हिंदुस्तानी जबान का एक माहवार रिसाला 'होनहार' भी निकला है। कुछ उसकी बानगी भी लीजिए। 'गीत' का नाम तो आपने भी शायद सुना होगा। शायद इसलिये कि यह मुई संस्कृत का शब्द है, और इसका असली हिंदुस्तानी नाम है 'तराना'। पर हिंदियों की हठधर्मी तो देखिए। फुटनोट में (होनहार, मई पृ० ५२) 'तराना' का अर्थ दे दिया 'गीत'; गोया 'गीत' 'तराना' से कहीं अधिक आमफ़हम है। 'रहमत' की जगह 'कृपा', 'हुन' की जगह 'अमृत', 'जन्नत' की जगह 'स्वर्ग', 'जलवा' की जगह

'शोभा' और 'ऐवान' की जगह 'भवन' का प्रयोग तो हिंदुस्तानी में हो नहीं सकता, पर हिंदुस्तानियों की समझ में आ जाने के लिये उनका प्रयोग आवश्यक क्या अनिवार्य है। तभी तो अर्थ में उनका विधान किया जाता है और फ़ुटनोट की सृष्टि होती है। इस 'क़ौमी तराना' में 'तराना' क्या गजब ढा रहा है। यदि स्वर्गीय सर मुहम्मद इकबाल हिंदुस्तानी नस्ल से न होते तो हरगिज 'हिंदुस्तानी बच्चों का क़ौमी गीत' न लिखते और इस तरह अपना कोई और ही 'तराना' लिखते। 'लंका से ता कोह-हिमाला' इस 'क़ौमी तराना' का प्रचार अवश्य हो जाना चाहिए क्योंकि इसमें 'टीपू' और 'पोरस' 'पैदा कर' की प्रार्थना की गई है जिनके हारने की शान निराली है। जीतने का काम तो कभी हिंदुस्तान ने किया ही नहीं फिर उसके विजयी वीरों का उल्लेख कहाँ से हो! कोई 'अकबर' या 'अशोक' कहाँ मिले!

हो ले, 'होनहार' भी हो ले। उसे होनहार पर छोड़ थोड़ा फिर 'हिंदुस्तानी लुग़त' पर विचार कीजिए और कृपया भूल न जाइए कि यह वही हिंदुस्तानी है जो शुमाली हिंद में बोली जाती है, याने उर्दू है, हिंदी नहीं। अब इस 'हिंदुस्तानी' की 'लुग़त' भी वही बना सकता है जो 'उर्दू' हो 'हिंदी' नहीं, 'दरबारी' हो घर-बारी नहीं, 'सरकारी' हो इम्दादी नहीं। अतः कोई कारण नहीं कि 'हिंदुस्तानी डिक्शनरी' का सारा भार किसी उर्दूपरस्त को न सौंप दिया जाय और उसकी देखरेख उसका कोई हमदर्द न करे। किसी हिंदीउर्दूदाँ की जरूरत तो तब होती जब

हिंदुस्तानी का कुछ निजी लगाव हिंदी से भी होता। हिंदी तो कल की 'हिंदूई' या पंडिताऊ चीज ठहरी ! ठीक है। पर कृपया यह तो देखिए कि भारतीय भाषाओं के चित्रगुप्त सर जार्ज ग्रियर्सन जैसे भाषामनीषी क्या कहते हैं। जरा गौर से सुनिए, उनका कहना है कि--

"Hindi- A form of the Hindostani dialect of western Hindi. Widely spoken throughout Northern India." (Lingnistic Survey of India, Vol I. Part I. P. 454)

और उर्दू ? उसे भी नोट कर लें—Urdu-A form of the Hindostani Dialect of Western Hindi. It is génerally written in the Persian character and is distinguished by the free use of words borrowed from Persian or Arabic." (Linguistic Survey of India, Vol I. Part I. Introductory, 1927 P. 513)

सर जार्ज ग्रियर्सन का दावा सही हो या गलत, उससे हमारा कोई मतलब नहीं। हमें तो 'हमारी ज़बान' तथा 'हिंदुस्तानी लुग़त' के विधाता डाक्टर मौलाना अब्दुल हक तथा उनके हमजोलियों से यह जान लेता है कि जब हिंदुस्तानी बोलचाल की ठेठ भाषा है तब उसकी 'लुग़त' के लिये 'मुस्तनद मुसन्निफों की कैद क्यों ? क्या लोकगीतों से हिंदुस्तानी जबान का काम नहीं चल सकता ! निवेदन है नहीं, हरगिज नहीं। क्यों ? कारण प्रत्यक्ष है। वह वस्तुतः हिंदुस्तानी नहीं 'इम्तयाज़ी' चीज है जो

मेलामलाप से गायब हो जाती है और 'इम्तयाज़' की सारी शेखी मारी जाती है। निदान, इस इम्तयाज की रक्षा के लिये 'मुस्तनद' की टकसाल जरूरी क्या अनिवार्य है। इसके बिना किसी इम्तयाजी जबान का जीवित रहना कठिन है। अतः जबान के पहुँचे हुए फकीरों ने 'मुस्तनद' मुसन्निफों की कैद लगा दी; और किस सफाई से 'ठेठ' को 'उर्दू' की बाँदी बना दिया, मानो उर्दू के मुस्तनद मुसन्निफ सदा से 'गँवारी' के कायल रहे हैं, कुछ हिंदी-द्रोही फारसी अरबी के भक्त नहीं।

होता भी क्यों नहीं? आखिर थे भी उक्त कमेटी में विराजमान–

(१) डाक्टर राजेन्द्र प्रसाद
(२) डाक्टर सच्चिदानन्द सिनहा
(३) डाक्टर जाकिर हुसैन
(४) डाक्टर ताराचंद
(५) डाक्टर बाबूराम सक्सेना *
(६) मौलवी अब्दुल हक
(७) मौलाना सैयद सुलैमान नदवी
(८) ख्वाजा गुलामुस्सैयदैन
(९) प्रोफेसर नरेंद्र देव
(१०) प्रोफेसर बदरीनाथ वर्मा
(११) राजा राधिका रमण सिंह

अब इन एकादश रुद्रों में क्या कोई ऐसा भी वीर है जो सचमुच दिलेरी के साथ यह दावा करे कि वस्तुतः वह हिंदी का

---

* पुस्तक छपते छपते समाचार मिला कि डा० बाबूराम सक्सेना ने उक्त कमेटी से त्यागपत्र दे दिया। इस साहस और न्यायप्रियता के लिये डाक्टर साहब को अनेक बधाइयाँ! —प्र०

हितू है और उसका सारा नहीं तो कुछ जीवन अवश्य ही हिंदी-हित में लगा है ? रही उर्दू की बात। सो उसके विषय में साव-धानी से नोट कर लें कि उसके सभी पेशवा वहीं मौजूद हैं। डाक्टर जाकिर हुसैन जामा-मिल्लिया इसलामिया (देहली) के अध्यक्ष हैं, तो मौलवी अब्दुल हक़ अंजुमन तरक्की उर्दू (हिन्द) के सर्वस्व। मौलाना सैयद सुलैमान साहब 'दारुल्मुसन्नेफ़ीन' (आजमगढ़) के प्राण हैं, तो ख्वाजा गुलामुल्सैयदैन मुसलिम यूनिवर्सिटी (अलीगढ़) के प्रतिनिधि। तात्पर्य यह कि यहाँ उर्दू अपने सभी स्तंभों पर विराजमान है और उनका सहारा पा रही है। कहना न होगा कि उक्त संस्था में कायस्थों की प्रधानता है—

"कायस्थ फ़ारसी और उर्दू की तालीम देते हैं। कायस्थ लोग फ़ारसी उर्दू पर उसी तरह क़ुदरत रखते हैं जैसे मुसलमान।" (खुतबात गार्सा-द-तासी, अंजुमन तरक्की उर्दू, हिंद पृ० ६०८)

और स्थूणों की, जो देखने में हिंदी के आधार दिखाई दे रहे हैं पर हैं वास्तव में उर्दूभक्त। अब उक्त महानुभावों में कितने ऐसे बच गए हैं जिनके संबंध में निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि उनका संस्कार उनकी शुद्ध भाषादृष्टि का घातक नहीं हैं। याद रहे, सर जार्ज ग्रियर्सन जैसे भाषामर्मज्ञ तथा डाक्टर धीरेंद्र वर्मा (हिं० भाषा का इतिहास पृ० ३७) ने भी स्पष्ट घोषित कर दिया है कि वस्तुतः उर्दू पढ़े लिखे मुसलमानों, देशी काश्मीरियों और कायस्थों की जबान हैं। काश्मीरियों को अलग रखिए, पर कृपया भूल न जाइए कि उर्दू पढ़े लिखे कायस्थों की अपनी जबान सी

रही है। मसिजीवी तथा सरकारी होने के कारण उनका उर्दू (दरबारी) से भी गहरा संबंध हो गया था और फलतः आज भी किसी न किसी रूप में बना ही रह गया है। अब सर जार्ज ग्रियर्सन और डाक्टर धीरेंद्र वर्मा के प्रमाण पर उन लोगों को भी उर्दू में गिन लीजिए जो देखने में हिंदी दिखाई दे रहे हैं पर वास्तव में हैं मसिजीवियों की परंपरा में, अर्थात् उर्दू के हमदर्द। अतः विवश हो हमको मानना पड़ता है कि उक्त 'कमेटी' को हम किसी प्रकार भी शुद्ध 'हिंदुस्तानी' कमेटी नहीं कह सकते। हाँ, यदि कोई उसे प्रच्छन्न 'उर्दू' कमेटी कहना चाहे तो हम उसकी जबान भी खींच नहीं सकते। कारण, उर्दू के नामी पेशवा उर्दू को ही 'हिंदुस्तानी' के नाम से चालू करना चाहते हैं और उसी के लिए प्राणपण से प्रयत्न कर रहे हैं। यदि यकीन न हो तो 'हमारी ज़बान' के कारनामों को देखिए और अल्लामा सैयद सुलैमान साहब नदवी के व्याख्यानों को पढ़िए। अंजुमन तरक्की उर्दू (हिंद) के मुखपत्र 'उर्दू' का तो धर्म ही है 'उर्दू' का प्रचार करना। अतएव उसका उल्लेख ही व्यर्थ है। परंतु याद दिलाने और गौर करने की बात यह है कि उसी के प्राण मौलवी अब्दुल हक उक्त 'हिंदुस्तानी लुग़त' के विधाता हैं जिसमें उर्दू के 'मुस्तनद मुसन्निफ़ों' की सनद बटोरी जा रही है और एक तिलिस्म के द्वारा बात की बात में एक 'आमफ़हम ज़बान' को 'ख़ासपसंद' बनाया जा रहा है। क्यों न हो, आखिर उर्दू है भी तो दरबारी जबान? फिर दरबार उसकी दस्तगीरी क्यों न करे! और प्रजा उसकी

'भगतिन' क्यों न बने ! हम हिंदियों के लिये तो 'यथा राजा तथा प्रजा' की बात निराली नहीं हैं, यह तो हमारा एक सनातनी सत्य है, फिर आक्षेप कैसा ?

अस्तु। अधिक न कह कर अब स्पष्ट निवेदन यह कर देना है कि हम किसी प्रकार भी उक्त 'कमेटी' को साधु नहीं समझते, और न उन लोगों की 'लुग़त' को 'हिंदुस्तानी लुग़त' ही क़रार दे सकते हैं जो सचमुच हिंदुस्तानी का अर्थ उर्दू समझते और बोलचाल की ठेठ बोली को 'मुस्तनद मुसन्निफ़ों' की विलायती कसौटी पर कसते हैं। हमारी 'हिंदुस्तानी डिक्शनरी' तो वह डिक्शनरी होगी जो ठेठ हिंदुस्तानियों के बोलों को ले कर आगे बढ़ेगी और उन सभी बोलचाल के अरबी, फारसी या विलायती शब्दों को अपने आप में समेट लेगी जो कभी के उसकी कैद में आकर उसके हो चुके हैं। वह तो 'इस्तयाज़ी' उर्दू की कैद में हरगिज नहीं रह सकती। उसे तो जी जान से 'हिंदुस्तानी' होना है और व्यक्त करना है सच्चे हिंदुस्तानियों के हृदय को। फिर वह किसी किताबी कीड़े की पाबंद क्यों रहे ? क्यों न शुद्ध, खरे और सटीक हिंदुस्तानी शब्दों को चुने और गवाँरों की गवाँरी भाषा को भाषा की जान समझे ? किसी की 'पेच' में पड़ कर अपने सच्चे स्वरूप को भुला देना त्याग नहीं कायरता है। निदान, हमें सबके स्वरूप की रक्षा करनी चाहिए और देश में उस भाषा का प्रचार करना चाहिए जो सचमुच देशभाषा हो, किसी कठहुज्जत की कठपुतली या शैतानी गँठजोड़ नहीं।

केवल एक बात और, और बिहारी हिंदुस्तानी का अंत। आखिर बिहार की हिंदुस्तानी का होनहार क्या है ? अच्छा होगा उसी के 'माहवार होनहार' से इसे भी देख लें। 'होनहार' का मुखचित्र आपके सामने है। होनहार बच्चे कुछ पढ़ रहे हैं। क्या पढ़ रहे हैं इससे कोई काम नहीं। बहस बस इस बात की है कि उनके सामने 'लिखी' क्या है। 'लिपि' और 'खत' की हिंदुस्तानी तो 'लिखी' बन गई, पर वह किताब लिखी किस 'लिखी' में गई, कुछ इसका भी पता है ? अच्छा, न सही। पर इतना तो प्रत्यक्ष है कि वह 'लिखी' जिसके सामने है वह एक मुसलमान है और दूसरा जो बगल से उस पर जम रहा है वह एक हिंदू है। याद रहे, 'हिंदुस्तानी' पर इतना जोर सिर्फ इसीलिये दिया जा रहा है कि उसके प्रचार से देश में एकता स्थापित होगी। पर क्या यह चित्र किसी एकता का द्योतक है ? जरा गौर से देखिए। मुसलिम बालक का लिबास क्या है ? उसे कट्टर लिबास क्यों दिया गया है ? क्या उसके सिर पर गाँधी या अजमल टोपी ठीक न उतरती ? क्या हिंदुस्तान ने गांधीटोपी को कौमी टोपी के रूप में स्वीकार नहीं कर लिया है ? क्या राष्ट्रपति राजेन्द्र बाबू और शिक्षा सचिव महमूद साहब इस टोपी को पसंद नहीं करते ? यदि हाँ, तो 'होनहार' के मुखचित्र में उसकी उपेक्षा क्यों ? क्या इसका भी कुछ भीतरी रहस्य है ? क्या हमारा होनहार भी यही है ? अच्छा, यही सही। फिर बिहार सरकार स्पष्ट क्यों नहीं कह देती कि उसकी साधु दृष्टि में वह

'लिखी' भी 'उर्दू' ही है जिसे मुसलमान अपनी चीज समझते हैं और जिसे सीखने के लिये हिंदू विवश किए जा रहे हैं? पर वह करे क्या, वह तो हैरान है उर्दू की जालसाजी से। देखिए न, उसकी कृपा से कैसा अद्भुत वाक्य बन गया! जरा सुनिए तो सही--

"अब खुदकाश्त जमीन सैर नहीं हो सकती।"

हम 'सीर' को तो समझ सकते हैं, पर इस काँगरेसी 'सैर' को समझाने के लिये किसी काँगरेसी लुगत की जरूरत है। अतएव हमारी करबद्ध प्रार्थना है कि जब तक उक्त काँगरेसी 'हिंदुस्तानी लुग़त' तैयार न हो जाय तब तक किसी 'हिंदुस्तानी रीडर' का प्रचार न करें और 'होनहार' को भी चालू न करें, क्योंकि उसके बिना 'लिखी' 'जाग' और 'सैर' का सच्चा अर्थ कौन समझ सकता है?

---*---